भक्तियोग

अश्विनीकुमार दत्त।

भक्तियोग

लेखक—

श्रीयुत अश्विनीकुमार दत्त

अनुवादक—

चन्द्रराज भण्डारी 'विशारद'

हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
१२६, हरिसन रोड, कलकत्ता

प्रथम बार] आश्विन १९७९ [मूल्य १॥)

प्रकाशक
बैजनाथ केडिया
प्रोप्राइटर
हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
१२६, हरिसन रोड
कलकत्ता

जगदीश नारायण तिवारी द्वारा
मुद्रित
वणिक् प्रेस
१० मिर्जापुर स्ट्रीट कलकत्ता

विषयसूची | पृष्ठ संख्या

देशभक्त मैजिनीके लेख

अनुवादक

छविनाथ पाण्डेय बी० ए० एल० एल० बी०

जिन लोगोंने इटलीका इतिहास पढ़ा है, उन्हें भली भांति विदित है कि १८ वीं सदीमें इटलीकी क्या दशा थी। परराजतन्त्रके दमनचक्रमें पड़कर इटली घोर यातनायें भोग रहा था। न तो किसीको पेटभर अन्न मिलता था और न किसी प्रकारकी काम करनेकी ही व्यवस्था थी। कोई स्वतन्त्रतापूर्वक लिख या बोल भी नहीं सकता था। जिस किसी देशभक्तने जनताके उद्धारकी चेष्टा की वह चट जेलमें ठूंस दिया या देशसे निकाल दिया जाता था, आजकलकी भारतकी अवस्थासे प्रायः मिलती जुलती अवस्था हो रही थी।

इटली एकदम निर्जीव हो गया था। ऐसी ही दशामें देशभक्त मैजिनीने अपने लेखोंका शंखनाद किया और इनका ही प्रभाव था कि इटली जाग उठा और स्वतन्त्र बन गया। उन्हीं मैजिनीके लेखोंका यह संग्रह है। यह पुस्तक हमारे बड़े ही कामकी है, सुन्दर एन्टिक कागजपर छपी है महात्मा मैजिनीका एक चित्र भी है, पृष्ठ संख्या २६४ मूल्य २) स्थायी ग्राहकोंसे १॥)

मिलनेका पता :—हिन्दी पुस्तक एजेन्सी

१२६, हरिसन रोड, कलकत्ता।

ब्राञ्च—बुलानाला, काशी।

प्रकाशकका निवेदन ।

सभी इस संसारके कष्टोंसे पीड़ित होकर सुखकी अभिलाषा करते हैं। संसारके नश्वर पदार्थ जो आज सुखकर प्रतीत होते हैं वे ही कुछ कालके बाद दुःखका कारण बन जाते हैं परन्तु हृदयकी निर्बलता, अविवेक और विषम भोगकी प्रबल लालसाके कारण जब भी संसारके भोगविलासोंके प्रलोभन आगे आते हैं तो चञ्चल मन अपनी सब बुद्धिमत्ताको भूलकर उधर ही चला जाता है और वहां ही फँसकर कष्ट पाने लगता है फिर वहांसे निकलनेका उपाय न देखकर छटपटाता है, पश्चात्ताप करता है, अपने अन्दर बल न देखकर अपनेको संकटोंसे बचानेके निमित्त अपना उस कष्टसे सदाके लिये उद्धार पानेके निमित्त प्रभुसे प्रार्थना करता है। परन्तु चञ्चल होनेसे या कुछ भी सुख मिल जानेसे वह फिर उस ईश्वरको भूल ज़ाता है और फिर उन्हीं विषयोंमें बँध जाता है। इस अनादि संसारके जन्म मरणके चक्रसे मुक्त होनेके लिये विना उस प्रभुकी शरणके दूसरा उपाय नहीं है। उस प्रभुकी शरण लेना ही प्रभुकी भक्ति करना है।

भगवानकी भक्ति किसी भी सम्प्रदाय या धर्मके अनुयायियोंकी मौरूसी सम्पत्ति नहीं है। भगवानको किसी नामसे भी स्मरण करनेवाले सभी भक्तिमार्गके अधिकारी हैं। वे सभी देशों और सभी कालोंमें और सभी जातियोंमें हुए हैं। दुःखोंसे छूटनेके उपायोंकी चिन्ता प्राणिमात्रको है और भगवानकी भी सभीपर समान भावसे कृपा है। परन्तु यह मन ऐसी बुरी तरहसे फँसा हुआ है कि वह अपने मार्गमें बार बार भटक जाता है। उसको अपना कर्त्तव्य बार बार भूल जाता है। वह अपने सुखोंके बरसानेवाले, हृदयाकाशके

अन्धकारको दूर करनेवाले तथा ज्ञानमय उपदेशध्वनि सुनानेवाले प्रभु पर्जन्यको भूल जाता है। भक्त, महात्मा लोग उसी मेघकी चातकके समान आराधना करके सदा सुखी रहते हैं। उनके समान सुख पानेके लिये उनके आचरण और चरित्रको जानना भी बड़ा आवश्यक है। हिन्दी संसारमें ऐसा साहित्य बहुत कम है जिसमें महात्माओंके बतलाये भक्तिमार्गके सरल उपायोंका वर्णन किया हो। बङ्गालके सुप्रसिद्ध विद्वान श्रीअश्विनीकुमार दत्तने इस विषयपर भक्तियोग नामक एक बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण पुस्तक लिखी है। बङ्ग साहित्यमें इस पुस्तकका बड़ा ही आदर है। इसीका मर्मानुवाद यह पुस्तक हिन्दी साहित्यके पाठकोंके करकमलोंमें भेट करते हुए हमें स्वयं बड़ा हर्ष है।

इस पुस्तकमें बहुतसी विशेषतायें हैं जिनको संक्षेपमें हम पाठकोंके समक्ष अवश्य रखना चाहते हैं।

१—उदार असाम्प्रदायिक भाव—एक ही महाप्रभुकी भिन्न २ रूपोंमें भिन्न भिन्न प्रकारसे आराधना करते हुए अज्ञानवश हमारे चित्तमें बहुत अंशोंमें संकीर्णता आ जाती है। संकुचित हृदय होकर हम ईश्वरके सार्वभौम प्रेमको सर्वथा भूल जाते हैं और इसी कारण भगवानके परम भक्तोंकी निन्दायें करने लगते हैं। इस पुस्तकमें सब प्रकारके संकुचित भावोंको सर्वथा त्यागकर उदार हृदयसे भक्तिके गूढ़ तत्त्वोंका प्रतिपादन किया है।

२—भक्तिमार्ग विषयक सुन्दर सुन्दर दृष्टान्त—भक्तिमार्गका सारा विषय बड़ा गम्भीर है। सर्व साधारण इस विषयके साहित्यको पढ़नेके लिये मनोयोग नहीं देना चाहता। परन्तु इस पुस्तकमें ऐसे रोचक रोचक दृष्टान्त दन्तकथा और महात्माओंके जीवन चरित्रोंका संग्रह किया गया

है कि सचमुच पढ़कर हृदय प्रसन्न हो जाता है। पाठकोंके हृदयमें स्वयं भक्तिमार्गमें चलनेके लिये उत्साह उत्पन्न होता है।

३—उच्च आदर्श—शास्त्रकारोंने भक्तिमार्गसे उच्च आदर्शतक पहुंचानेके लिये किस प्रकारका मार्ग दर्शाया है उसका बड़ा ही रोचक सार्वभौम चित्र अङ्कित किया गया है। उसको क्रिया रूपसे महात्माओंके जीवनोंमें कैसे साक्षात् कर सकते हैं यह स्पष्ट दर्शाया गया है। महात्माओंके उच्च आदर्शपदतक पहुंचनेके लिये किन विघ्न बाधाओं और प्रलोभनोंका सामना करना पड़ता है और उनपर कैसे विजय लाभ किया जाता है इसका भी बड़ी सरल रीतिसे वर्णन किया गया है।

हमारा पाठकोंसे यही अनुरोध है कि इस ग्रन्थको आदिसे अन्ततक पढ़कर ही आप सच्ची भक्तिका पूरा रस जान सकेंगे। भागवत, गीता, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, पुराण, कुरान, इंजील आदि धर्मपुस्तकों तथा अन्य नारद, शाण्डिल्य, श्रीरूपगोस्वामी, चैतन्य तथा अन्य भगवद्भक्तोंके वचनोंका उल्लेख होनेसे यह पुस्तक सर्वहृदयंगम बनी है।

अन्तमें इतना निवेदन अवश्य करेंगे कि अनुवादमें बहुतसी त्रुटियां रह जानेके कारण पाठकोंको कदाचित् पूरा संतोष न हो सके तो भी सुन्दर बनानेका यथासाध्य प्रयत्न किया गया है। मैं आशा करता हूं कि पाठक इस ग्रन्थके दोषोंपर दृष्टि न देकर मर्मका आस्वादन करेंगे।

भवदीय

प्रकाशक।

निवेदन ।

आज मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ इस ग्रन्थको लेकर पाठकोंकी सेवामें उपस्थित होता हूं। यह अबतक कभीका पाठकोंके हाथमें पहुंच गया होता पर कई एक कारणों से यह अवतक रुका रहा। मैं हिन्दी पुस्तक एजेन्सीके मालिक श्रीयुत बैजनाथजी केडियाको धन्यवाद देता हूं जिनकी कृपासे यह ग्रंथ इस रूपमें प्रकाशित हो गया है।

मूल पुस्तक बङ्गलामें है। इसके लेखक बङ्गालके सुप्रसिद्ध महानुभाव अश्विनीकुमार दत्त हैं। इस पुस्तकका बंग साहित्यमें बहुत मान है। आशा है हिन्दी प्रेमी पाठक भी इसका महत्व जानकर समुचित आदर करेंगे। मूल पुस्तक समयपर न मिलनेसे हमें इसका बहुतसा अनुवाद गुजराती अनुवादसे करना पड़ा इसलिये हम उसके अनुवादक श्रीयुत-अम्बालाल बालकृष्ण पुराणी बी० ए० के अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

कदाचित् गुजरातीसे भाषान्तर करनेके कारण इसमें कई दोष रह गये हों इसके लिये हम पाठकोंसे क्षमाप्रार्थी हैं।

शान्ति मन्दिर
भानपुरी
ता०७।८।१९२२ } चन्द्रराज भण्डारी 'विशारद'।

उपोद्घात।

वर्त्तमान समयमें धार्मिक वादविवाद बहुत होते हैं, भिन्न भिन्न पंथके लोग एक दूसरेके मतोंके खंडन करनेका जी जानसे प्रयत्न करते हैं, भिन्न भिन्न मतावलम्बियोंकी निन्दा करनेमें हमें अपूर्व आनन्द मिलता है। ऐसे भी कितने ही दृष्टान्त मिलते हैं, जिनमें धार्मिक उपदेशकों और प्रचारकोंने अपने विरुद्ध मताव-लम्बियोंको गालियां तक दी हैं और देते हैं। और उसीके लिये लोग उनकी अधिक प्रशंसा करते हैं।

हम इस संसारमें कुछ समयकी मुसाफिरीके लिये आए हैं, और जिस उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिए हम आये हैं, उसकी प्राप्तिके लिये यदि हम कुछ भी प्रयत्न न करेंगे तो हमारा जीवन ही व्यर्थ होगा। हमें प्रत्येक मजहबके अन्दर व्याप्त सत्यको स्वीकार करना चाहिए। तमाम धर्म्मोंके झगड़े, और मतभेद वाह्य और स्थूल पदार्थोंपर अवलम्बित हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि, बाहरी छिलकेको फेंककर अन्दरकी गिरी प्राप्त करें। समुद्रके किनारेपर जितने बालूके परिमाणु हैं, चाहे उतने ही मत मतान्तर क्यों न हो जायँ, प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार भिन्न भिन्न मार्गोंका अवलम्बन क्यों न करने लगे, पर तोभी संसारका लक्ष्य एक ही है। सबका अन्तिम लक्ष्य केवल एक ही "ईश्वर" है। और उस ईश्वरको पहचाननेवाली बुद्धि भी सब

मनुष्योंमें समान है। एक सुन्दर बङ्गाली काव्यमें कहा गया है कि, "हेतु एकका एक ही है, ईश्वर एक है, वेद भी एक है, सद्गुरु भक्ति, और साक्षात्कार प्रत्येक मनुष्यमें जहाँ जहाँ रहते हैं, वहाँ वहाँ एक ही प्रकारके मालूम होते हैं। दया और प्रेम एक ही प्रकारके होते हैं। मनुष्य शरीर एक ही प्रकारके साँचेमें ढाला हुआ है। उसकी नसोंमें एक ही प्रकारका रुधिर प्रवाहित होता है। पर जिस प्रकार एक ही स्थानपर पहुँचनेके रास्ते भिन्न भिन्न हैं, उसी प्रकार एक ही ईश्वरको प्राप्त करनेके मार्ग भी जुदा जुदा हैं। सब मनुष्य एक ही स्थानपर जानेका प्रयत्न कर रहे हैं। पर कोई रेलगाड़ीके द्वारा जाता है, कोई जहाजके द्वारा।

सब ही धर्म्मोंका यही तात्पर्य है, इसलिये इस सिद्धान्तको मानकर झगड़े और मतभेदको दूर करना चाहिए। महिम्नस्तोत्रका निम्न श्लोक हममेंसे कितनोंको याद होगा :—

त्रयी सांख्यं योगाः पशुपतिमतं वैष्णवमिति।
प्रभिन्ने प्रस्थाने, परमिदमदः पथ्यमितिच ॥
रुचीनां वैचित्र्या दृजु कुटिल नाना पथ जुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसा मर्णव इव ॥

अर्थात्—"वैदिक, सांख्य, योग, शैव और वैष्णव वगैरह मतोंमेंसे कोई किसीको सच्चा बतलाता है और कोई किसीको। पर जिस प्रकार सब नदियोंके प्रवाह—चाहे वे सीधे हों चाहे टेढ़े—अन्तमें समुद्रमें ही जाकर मिलते हैं, उसी प्रकार प्राणी

मात्र अपनी भिन्न भिन्न रुचियोंके अनुसार चाहे जिस मार्गका अवलम्बन करें पर अन्तमें उन सबोंका प्रयास हे प्रभु! तुझे ही प्राप्त करनेका है।

बीजको फेंककर छिलकेके लिये झगड़ा करनेवाले मनुष्य क्या मूर्ख नहीं हैं? एक बङ्गाली काव्यमें सत्य कहा है कि "खीच कूटनेके मूसलकी पूजा करनेसे भी, यदि जीवनके दुख दूर होते हों, तो लोगोंको मानापमानकी परवा न कर शान्तिपूर्वक उसी मार्गसे चला जाना चाहिये। ऐसा करनेसे प्रेमका अद्भुत आनन्द प्राप्त होगा।"

सज्जन मनुष्य चाहे जिसको परमात्मा समझे, पर जो मिलनेवाला है वह तो केवल "शुद्ध और भक्ति परायण हृदय ही है। यदि वह हैं तो अज्ञानरुपी तिमिरका नाश होगा जिससे मार्ग स्पष्ट और सरल मालूम होगा। प्रकाशको खोज करो। ज्ञानको शोधो।"

"आपसमें झगड़े करनेसे अज्ञानका अन्धकार दूर नहीं हो सकता। केवल वादविवाद और जबरदस्तीसे भी अज्ञान नष्ट नहीं हो सकता, उसका नाश करनेके लिये तो ज्ञानरूपी प्रकाश की आवश्यकता है।"

जिनके पवित्र हृदयमें ज्ञान सूर्य्यका प्रकाश हो रहा है, वे कभी किसीसे वादविवाद करते नहीं देखे गये। वे तो हमेशा सय ओर समदृष्टि रखते हैं। जो मनुष्य पर्वतकी ऊँची चोटी पर खड़ा है उसे नीचेके सब वृक्ष श्रेणीके समान मालूम होगें,

सब खेत एक समान सम ही दृष्टिगोचर होंगे। ब्रह्म समाजके प्रचारक बाबू प्रतापचन्द्र मजुमदार आदि, ब्रह्म समाजके नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ टागोरसे मिलने गये। उन महर्षिकी टेबुलपर उन लोगोंने ईसाई धर्मके कितने ही ग्रन्थ देखे, देवेन्द्रबाबूको ईसाई धर्मसे घृणा है, यह बात बाबू प्रतापचन्द्रको मालूम थी, इसलिये वहां उन ग्रंथोंको देखकर उन्हें बड़ा ही आश्चर्य्य हुआ। उन्होंने महर्षिसे पूछा—"ये पुस्तकें आपकी टेबुलपर कैसे आई ?" महर्षिने उत्तर दिया,—"जब मैं नीचेके प्रदेशमें चलता था, तब मुझे स्थान स्थानपर आती हुई टेकरियां, और जमीनका ऊँचा नीचापन मालूम होता था, पर अब मैं कुछ ऊँचा चढ़ गया हूँ, इसलिये नीचेका प्रदेश मुझे एक समतल मैदानकी तरह मालूम होता है ; और एक ही मालिकके वजीफ़ेकी तरह वह दिखलाई देता है।" आध्यात्मिक जीवनकी ऊँची श्रेणीको प्राप्त हो जानेसे, उनका हृदय विशाल हो गया था, जिसमें सब प्रकारके मत मतान्तरोंके भेद विलीन हो गये थे। यह तो ठीक है, पर क्या हमें श्रीरामकृष्ण परमहंसके साथ ब्रह्म समाजके बाबू केशवचन्द्रसेनकी गाढ़ मैत्रीका परिचय नहीं है ?

ईश्वरका सच्चा भक्त जाति और धर्मको सम्मान नहीं देता। वह तो सबोंको समदृष्टिसे देखता है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे विदित होगा कि, सब धर्म, उस एक ही धर्मकी सन्तान हैं— मैंने एक वार श्रीरामकृष्ण परमहंससे पूछा—"हिन्दू धर्ममें और ब्रह्मसमाजमें क्या भेद है ?" उन्होंने उत्तर दिया—"इस मन्दिरके

अन्दर कीर्त्तन होता है वह मैं सुनता हूं, पर उसमेंसे एक मनुष्य ऐसा है जो हमेशा अपने बाजेमेंसे एक ही प्रकारका स्वर निकालता है, दूसरा उसी बाजेमेंसे कई प्रकारके ताल और स्वर व्यक्त करता है। और एक तीसरा मनुष्य दूसरे बाजे से दूसरे ही प्रकारका स्वर निकालता है, पर उन सबोंमें क्या अन्तर है ?" कुछ भी नहीं।

कल्पना कीजिए कि, एक विशाल तालाब है, उसके चारों ओर पानी खींचनेके चार स्थान हैं। उन चारोंपर खड़े होकर चार भिन्न भाषाभाषी मनुष्य पानी खींच रहे हैं। एक मनुष्यने उनसे जाकर पूछा—भाई! तुम क्या खींचते हो? उत्तरमें चारोंने क्रमशः "पानी, जल, वाटर" और "आब" कहा। जिस प्रकार एकही वस्तुको भिन्न भिन्न मनुष्योंने भिन्न भिन्न नामोंसे बतलाया, उसी प्रकार एक ही परमात्माको मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार भिन्न भिन्न नाम देते हैं।

इस प्रकार यदि सब धर्म्मोंका रहस्य एक ही है, तो फिर मत मतान्तरोंके झगड़े से क्या लाभ ? मनुष्य जीवनके उद्देश्य सब धर्मोंके रहस्य प्रभु प्रेम भक्तिको पानेका प्रयत्न करो।
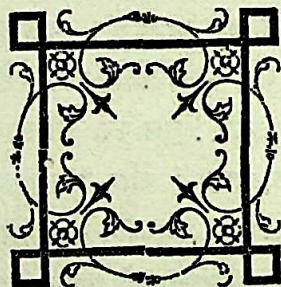
भक्तियोग

प्रथम अध्याय

भक्ति क्या है ?

भक्तिसूत्रमें नारद ऋषि कहते हैं—"किसी भी पदार्थसे गाढ़ प्रेम रखनेको भक्ति कहते हैं।"

शांडिल्य सूत्रमें लिखा है,—"ईश्वरके प्रति अपूर्व अनुराग रखनेको भक्ति कहते हैं।" (अ० ७ सू० २) इस प्रकारकी भक्ति रागात्मिका, अहैतुकी, एवम् मुख्य भक्ति है। भक्ति रसात्मक सिंधुमें भी कहा है,—"हमारे इष्ट पदार्थोंकी ओर जो हमारा आंतरिक प्रेम रहता है, उसी उत्साहित प्रेमको भक्ति कहते हैं।"

१ (एक विद्वानका कथन है कि, "जिस प्रकार समुद्रकी ओर बहना नदियोंका स्वभाव है, सुगंधका प्रचार करना पुष्पोंका धर्म है, उसी प्रकार, हे प्रभो ! तेरे प्रति भक्ति करना यही मनुष्यका धर्म है।")

प्रयत्नके विना आप ही आप उत्पन्न होनेवाली, ईश्वरके प्रति स्वाभाविक उत्कंठा ही सच्ची भक्ति है। यह भक्ति निष्प्रयोजन

निस्वार्थ भक्ति है। इसमें हृदय अपनी आराध्य वस्तुके सिवा किसीकी इच्छा नहीं करता। ऐहिक सुखोंके लिये वह ईश्वरसे प्रार्थना नहीं करता। और तो क्या? मोक्षकी प्राप्तिको भी वह तुच्छ समझता है। केवल प्रभुप्राप्तिकी ही आकांक्षा इस हृदयको होती है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—"जिसने अपनी आत्मा मुझे अर्पण कर दी है, उसे न ब्रह्मासनकी आकांक्षा रहती है, न इन्द्रासन की, न वह अखिल विश्व सार्वभौम राज्यको चाहता है, न पातालके स्वामित्वको। यहांतक कि, वह पूर्वजन्मसे छुटकारा पानेकी भी आकांक्षा नहीं रखता। उसे तो मेरे सिवा अन्य किसीकी इच्छा नहीं होती।"

(श्रीमद्भागवत स्कंध ११ अध्याय १४)

भक्तराज रामप्रसादने सत्य कहा है—"भक्ति महारानी है मुक्ति उसकी दासी। जिस मनुष्यका हृदय प्रभुभक्तिके आनन्दमय रससे परिपूर्ण है, जिसके हृदयमें प्रभु-भक्ति रूपी सूर्य प्रकाशमान है, जिसके हृदयमें प्रभुभक्तिका झरना कल २ नाद करता हुआ बह रहा है, मुक्ति आप ही आप आकर उसके पैरों पड़ती है।"

सच्चा भक्त मोक्षकी परवा नहीं करता, उसे तो उस आनन्द हीमें मोक्ष मिल जाता है। ऐसे उच्च कोटिके भक्तोंको भक्तिके बदला पानेकी इच्छा नहीं रहती, उनके हृदयमें "मुझे बदला मिले" ऐसे विचारोंका अभाव रहता है।

"ईश्वरने मुझे ऐसे उत्तमोत्तम पदार्थ दिये हैं—उसने मुझे

इतने सुख चैनके साधन दिये हैं, इसलिये उसके बदलेमें मुझे उससे प्रेम रखना चाहिये" इत्यादि विचार सच्चे भक्तके हृदयमें स्थान नहीं पा सकते। सच्चे भक्तको ईश्वरके सिवा अन्य किसी भी पदार्थकी बिलकुल इच्छा नहीं होती। जो भक्ति भूतकालिक उपकारों और भावी सदिच्छाओंपर अवलंबित रहती है वह कभी अहैतुकी नहीं हो सकती। उसमें स्वार्थका आभास रहता है। अहैतुकी भक्तिके शब्दसागरमें "बदला" शब्दका अभाव है। एक विद्वानका कथन है "मैं चाहता हूं, कारण कि, मैं चाहता हूं! तेरे सिवा अन्यको चाहना व पहचानना मेरा स्वभाव नहीं है।" अहैतुकी भक्तिका यही तात्पर्य है और भक्तियोगकी यही पराकाष्ठा है।

यह तो हुई उत्कर्ष भक्ति। इससे हीन श्रेणीकी भी भक्ति होती है यद्यपि वह भक्ति इस संज्ञाके योग्य नहीं; तोभी उच्च भक्तिपर पहुँचानेके लिये यह सीढ़ियोंके समान सहायता करती है। इस सोढ़ीपर चढ़ना भी बड़ा कठिन कार्य है। लेकिन तोभी किसीको निराश नहीं होना चाहिए। प्रथम सीढ़ीसे प्रारंभ करके भी अभ्यास और अविश्रान्त उद्योग करनेसे उच्च श्रेणीपर पहुँच सकते हैं।

मनुष्योंकी उच्च तथा हीन श्रेणीकी शक्तियोंके निम्न लिखित दो भेद हैं—

१ रागात्मिका अथवा अहैतुकी (सर्वोत्कृष्ट)

२ बैधी—स्वार्थमय अथवा गौणी।

सामान्य मनुष्य "गौणी" भक्तिका सत्य एवम् निर्मल हृदयसे अभ्यास करते करते अन्तमें सर्वोत्कृष्ट भक्तिकी पराकाष्ठापर पहुँच जाते हैं। भक्ति रसात्मक सिंधुमें लिखा है—"जबतक मनुष्यके हृदयमें ईश्वरके प्रति स्वाभाविक प्रेम न हो जाय, तबतक उसे ऐसे धर्म-ग्रन्थोंका अभ्यास करना चाहिये जिससे वैधी अथवा गौणी भक्ति दृढ़ हो।"

प्रभुपर एक ही बार भाव उत्पन्न होते हैं तत्पश्चात् कुछ ही समयमें वे गाढ़ प्रेममें परिवर्तित हो जाते हैं। और उस गाढ़ प्रेमसे अहैतुकी भक्ति उत्पन्न होती है। धार्मिक पुस्तकोंका ध्यान पूर्वक सतत अभ्यास करनेसे, अथवा ईश्वरके गुणोंको प्रकाश करनेवाले वादानुवाद करनेसे ईश्वरके प्रति सद्भाव उत्पन्न होते हैं; और उससे गाढ़ प्रेमकी उत्पत्ति होती है। प्रभु भक्तिके अन्तर्गत एक यह खूबी रहती है कि, उससे आंतरिक प्रेम आप ही आप आकर्षित होता हुआ चला आता है। कई बार, कितने ही नास्तिकोंके पाषाण हृदय प्रभु नामके प्रभावसे ही ईश्वरके गाढ़े प्रेममें लीन हो गये हैं।

गौणी भक्ति जिसके विषयमें ऊपर कहा गया है "सहेतुक अथवा स्वार्थमय है।" ईश्वरने मुझे अनेक सुखोपभोगके सामान दिये हैं और देता ही जा रहा है, अनेक विपत्तियोंसे उसने मेरा रक्षण किया है, उसके समान दयालु और मायावी दूसरा कोई नहीं है" इत्यादि विचारोंके परिणाममें अथवा धनमानादि ऐहिक पदार्थोंकी इच्छापर जो प्रेम अवलंबित है, वह अलबत्ता जघन्य श्रेणीकी भक्ति है, तौभी उत्कृष्ट भक्तिपर पहुँचनेकी एक सीढ़ी है।

प्रह्लादके हृदयमें यह निःस्वार्थमय अहैतुकी भक्ति जन्मसे ही उत्पन्न हुई थी। वह दिनरात भगवान्‌के नामका स्मरण किया करते थे। लेकिन उन्हें उस भक्तिका कारण विदित न था। ध्रुवकुमारने राज्य प्राप्तिके लिये ईश्वरकी भक्ति प्रारंभ की थी। "सत्य हृदयके द्वारा प्रार्थना करनेसे ईश्वर भक्तके हृदयकी मनोकामना पूर्ण करता है," इस विश्वाससे कुमार ध्रुवने भक्ति प्रारंभ की थी। बहुत समयके प्रयत्नके उपरान्त जब भगवानने दर्शन दिये, और बर मांगनेको कहा, उस समय उसका हृदय प्रभु प्रेममें इतना आसक्त हो गया कि, वह आश्चर्य चकित हो गया। (जब भगवानने उसे उसके वरका स्मरण दिलाया, तो वह कहने लगा—"हे भगवन्! यह सत्य है कि, मैंने राज्य-प्राप्तिके लिये भक्ति प्रारंभ की थी लेकिन बड़े बड़े मुनियोंको अप्राप्य आपको प्राप्त किये पश्चात् मैं वरदानकी इच्छा नहीं रखता। भगवन्! मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो गये हैं। कांचको ढूंढ़ते ढूंढ़ते मुझे रत्न मिल गया है।)

कितना सुन्दर परिपाक! एक और भक्त था उसके समक्ष जिस समय साक्षात् देवीने आकर वर मांगनेको कहा, तो उसने उत्तर दिया—"माता! ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी अविश्रान्त परिश्रम करनेपर जिसे कठिनतासे पा सकते हैं, उसी अलभ्य दर्शनको प्राप्त किये पश्चात् क्या वर मागूं? मुझे अब और क्या इच्छा रह गई है! सचमुच मेरे सब मनोरथ पूर्ण हो गये।"

एक समय मैंने हरद्वारवासी कामराज परमहँससे पूछा—

"आप ईश्वरसे किस वस्तुकी आकांक्षा करते हैं ?" उन्होंने उत्तर दिया—"मेरी आत्मा हमेशा ईश्वरमें तल्लीन रहे। इसके सिवा मुझे और किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है।"

जिस प्रकार मधु मक्खीको शहद प्राप्तिके पश्चात् पानीकी आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार भक्तको भी ईश प्राप्तिके पश्चात् किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं रहती। जबतक मनुष्य अज्ञानी रहता है तभीतक ऐहिक सुखोंकी प्राप्तिके लिये वह ईश्वरसे प्रार्थना करता है। लेकिन जब उसे प्रभुप्रेमका परिचय मिल जाता है और उस प्रेममें सन्निविष्ट अपूर्व आनन्दका आस्वादन हो जाता है, तब वह ऐहिक सुखोंकी प्राप्तिके लिये क्यों चेष्टा करेगा ? उसके पश्चात् यदि कोई उससे पूछे कि, "तुम ईश्वरको क्यों चाहते हो ?" तो वह यही उत्तर देगा कि, "मैं चाहता हूँ कारण कि, मैं चाहता हूँ।"

इस प्रकार (उपरोक्त बतायी हुई रीतिसे) क्रमशः सहेतुकी भक्तिसे अहेतुकी भक्तिका उद्भव होता है और उसका विकास हो जाता है।

गौणी भक्ति उपासकोंके अनुसार तीन प्रकारकी होती है।

१—सात्विकी (पवित्र)
२—राजसी (अहंभाविक)
३—तामसी (मोहरूप)

मनुष्य क्रमशः तामसीसे राजसी एवम् राजसीसे सात्विकीको प्राप्त होकर अन्तमें—अहेतुकी अर्थात् निष्काम भक्तिको प्राप्त होता है।

श्रीकृष्ण भगवान अर्जुनसे कहते हैं—"यदि दुराचारी मनुष्य भी मेरी अनन्य भक्तिमें लीन हो जाय तो उसे सदाचारी गिनना चाहिये। कारण, उसे सम्यज्ञान प्राप्त है। इसीसे वह धर्मात्मा जो मुझे अनन्य भावसे भजता है शीघ्र ही शाश्वत अन्त सुखको प्राप्त करता है।" "हे कौंतेय! मेरा भक्त कभी नाशको प्राप्त नहीं होता। यह तुम निश्चय जानो।" (श्री० भ० गी० अ० ६ श्लोक ३०-३७)

उपरोक्त तीनों भेदोंकी परिभाषा निम्न लिखित है:—

१—चोर लुटेरे वगैरह दुष्ट कर्म करनेवाले लोग अपने पापमय दुष्ट कर्मको सफल करनेके लिये ईश प्रार्थना करते हैं। जिस समय ये लोग डाका डालनेके लिये निकलते हैं, उस समय कालीका पूजन करते हैं। झूठे मुकदमोंको जीतनेकी आकांक्षासे कई लोग दुर्गाका पूजन करते हैं, यह भक्ति "तामसी" कहलाती है।

२—जो लोग ऐहिक सुखोंकी प्राप्तिके लिये, या शत्रुओंपर विजय प्राप्तिके निमित्त ईश भक्ति करते हैं वह "राजसी" कहलाती है।

३—जो लोग सांसारिक सुखोंकी आकांक्षाके विना ही केवल आनन्द प्राप्तिके लिये भक्ति करते हैं, वह "सात्विकी" कहलाती है।

इन तीनों प्रकारकी भक्तिमें कुछ न कुछ स्वार्थ समाया हुआ है। पर निष्काम भक्तिमें कुछ भी ऐहिक हेतु नहीं होता। इतना

ही नहीं उसमें अनन्त आनन्द और मोक्षकी इच्छाओंको भी स्थान नहीं मिलता ।

सकाम भक्तोंके भेद

१ आर्त, २ जिज्ञासु, ३ अर्थार्थी, सकाम भक्त तीनप्रकारके होते हैं !

१ आर्त :—जो मनुष्य अपनेपर आये हुए संकटोंसे मुक्त होनेके लिये, अथवा विपरीत संयोगोंसे छूटनेके लिये ईश्वरकी भक्ति करता है, वह आर्त्त भक्त कहलाता है। उदाहरणार्थ कोई मनुष्य नौकापर सवार होकर जा रहा है, इतनेमें यदि एकाएक आँधी आ जाय, नौका डूबनेकी सम्भावनात हो, उस समय उस दुःखसे मुक्त होनेके लिये यदि वह ईश्वर। भक्तिं करे तो वह "आर्त" भक्त कहलायेगा।

२ जिज्ञासुः —जिज्ञासु भक्तमें ईश्वरके प्रति प्रारंभिक प्रेम नहीं होता, पर वह ईश्वरके गुण और कार्योंको जाननेके लिये आतुर रहता है। और इसीसे वह अभ्यास करता है।

३ अर्थार्थी :—जो मनुष्य एक निश्चित वस्तु, जैसे धन, सम्पत्ति, कीर्ति, सन्तानादिकी प्राप्तिके लिये ईश प्रार्थना करता है वह "अर्थार्थी" भक्त कहलायगा।

उपरोक्त भक्त यद्यपि जघन्य श्रेणीके हैं, परन्तु वे भक्तिका सतत् अभ्यास करनेसे निष्काम भक्तिको पाते हैं। जो आर्त होते हैं वे संकट मुक्त हुए पश्चात् ईश्वरकी भक्ति किये विना नहीं रह सकते और इस प्रकार निष्काम भक्तिको प्राप्त होते हैं। और

जिज्ञासु भक्त पुस्तकों और वाह्य जगत्में ईश्वराभ्यास करते करते निष्काम प्रेम करना सीखते हैं। क्योंकि अभ्यास करते करते ईश्वरपर उनका विश्वास अटल हो जाता है। अर्थार्थी भक्त निष्काम भक्तिको किस प्रकार पाते हैं इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण ध्रुवकुमार हैं।

द्वितीय अध्याय

भक्तिके लिये योग्यता

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कंधमें कहा है—"जो मनुष्य सांसारिक पदार्थोंसे विरक्त नहीं है एवम् जिसके हृदयमें उनके प्रति आसक्ति भी नहीं है और जिसके हृदयमें ईश्वरके प्रति प्रेम भाव उत्पन्न हुआ है, वह मनुष्य भक्त होने योग्य है।" (अ० २० श्लो० ८)

जबतक मनुष्य संशय रूपी अंधकारमें लिप्त रहता है, अज्ञानके गहरे कीचड़में फंसा रहता है, तबतक उसे भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। नित्य नहीं तो किसी किसी समय भी यदि मनुष्यका भाव ईश्वरकी ओर जाय, तो वह भक्त हो सकता है।

भक्तिका वय, वर्ण तथा स्थितिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। चाहे बुड्ढा हो, चाहे जवान, चाहे ब्राह्मण हो चाहे चाण्डाल, चाहे राजा हो चाहे रंक; भक्तिको इससे कोई सरोकार नहीं। बहुतसे मनुष्य ऐसा समझते हैं कि, योग्य वयको प्राप्त होनेके पहले भक्ति नहीं करना चाहिए। परन्तु यह उनकी भूल है। बाल्यावस्था ही भक्ति प्राप्त करनेकी सर्वोत्तम अवस्था है। श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते हैं—"जन्मसे हृदय मिट्टीके समान

पोला होता है, इसलिए संसारके संसर्गसे निष्ठुर हो जानेके पहले ही उसमें भक्तिका बीज बो दो।"

मेरे एक मित्रने मुझसे कहा था कि, "वृद्धावस्थामें भक्ति आरम्भ करना, मानों शैतानके उच्छिष्ट भोजनका ईश्वरको भोग लगाना है।"

बहुतसे लोग ऐसा कहते हैं कि, बाल्यावस्था ज्ञान प्राप्तिके लिये, युवावस्था धन प्राप्तिके लिये एवम् वृद्धावस्था भक्ति करनेके लिये है। लेकिन तात्त्विक दृष्टिसे देखनेसे विदित होगा कि, परमेश्वरका ऐसा आशय नहीं है। विद्या तथा धन ईश्वरकी भक्तिके साथ उपार्जन करने योग्य वस्तु हैं। धर्मसे शून्य विद्या एवम् धन किस कार्यमें आ सकते हैं? अधर्मी मनुष्योंमें तो धन प्राप्ति और विद्योपार्जनसे उलटे पापकी वृद्धि होती है। और वृद्धावस्थाके लिये पापके सिवा कुछ भी शेष नहीं रह जाता। यह बात निम्नांकित श्लोकके भावार्थसे और भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जायगी—"हे गणेश जननी! हे दुर्गा! बाल्यावस्थामें मैंने तेरी भक्ति न की, क्योंकि, उस समय मुझे ज्ञान नहीं था। किशोरावस्था और युवावस्था ज्ञान प्राप्ति एवम् धनोपार्जनमें चली गई और अब मैं मृत्युकी भयङ्कर झंकारोंसे भयभीत हो रहा हूँ। मैं अनाथ हूँ। अब किसकी शरण जाऊँ!"

यह हाल उन्हींका होता है जिन्होंने अपनी पूर्वावस्थाको धर्म रहित व्यर्थ ही खो दिया है। और इसीसे वे मृत्युसे भयभीत होते हैं। पर भक्तिसे परिपूर्ण जीवन व्यतीत करनेवालेको इस

प्रकारका अनुभव नहीं होता। वह तो निर्भय होकर डंकेकी चोटसे सिंहके समान यमराजको ललकार कर कहता है—"हे यम! मैं तेरे दांतोंसे रंच मात्र भी दुख नहीं पाता, मैं उनसे तनिक भी भय नहीं करता।" मनुष्यको मृत्युके लिये हमेशा तैयार रहना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार वह वृद्धावस्थामें मनुष्यके पास आती है उसी तरह युवावस्थामें ही वह मानव-जीवनको ग्रस सकती है।

महाभारतके शान्ति पर्वमें कहा है कि—"बाल्यावस्थासे ही धर्मशील हो जाओ। क्योंकि काल किस समय आकर धर दबायेगा, यह किसीको मालूम नहीं है।" (अ० १७५ श्लो० ७५) प्रह्लाद भक्तने भी कहा है कि:—"बाल्यावस्थासे ही भक्तिका अभ्यास करना चाहिये। कारण, मनुष्य जन्म दुर्लभ एवम् अनिश्चित है। इतना ही नहीं यदि पूर्णरूपसे फल पाना चाहते हो तो बाल्यावस्थासे भक्ति करो।"

जितने महात्मा हो चुके हैं, उनमेंसे बहुतोंने बाल्यावस्थासे ही भक्ति करना, प्रभुके प्रति प्रेम करना प्रारम्भ कर दिया था। जिन्होंने बाल्यावस्थासे भक्ति नहीं की, उनका जीवन वृद्धावस्थामें पश्चात्तापसे परिपूर्ण रहता है। इसलिये स्त्री पुरुषको बाल्यावस्थासे ही भक्ति करना चाहिये जिससे वृद्धावस्थामें पश्चात्ताप करनेका अवसर न आये।

यह पहले ही बतला दिया गया है कि, जाति, कुल, ऊंच, नीच आदिका भक्तिमें विचार नहीं रहता। शांडिल्य ऋषिने भी

कहा है—"नीचातिनीच अधम वर्णोंको भी भक्त होनेका अधिकार है।" (शांडिल्य सूत्र अध्याय २ सूत्र ७८) सत्य हृदयसे यदि चाण्डाल भी ईश्वरकी भक्ति करे तो ईश्वर उससे उतना ही प्रसन्न होगा, जितना एक उच्चातिउच्च कुलके मनुष्यसे। ईश्वरके मनमें उच्च अथवा नीचका भेदभाव नहीं। उसका मन दोनोंके लिये समान है। क्या चाण्डाल हमें नहीं चाह सकता? और यदि वह हमें सच्चे हृदयसे चाहता है तो हमें उसके प्रेमका अनादर करना कहाँतक ठीक है? निषादोंका अधिपति गुह रामचन्द्रको कभी कभी "तू" कह कर पुकारा करता था। उसके इस असभ्य व्यवहारसे लक्ष्मण क्रोधित होकर उसे मारने उठे। उसी समय रामचन्द्रजीने उन्हें रोक कर कहाः—"लक्ष्मण! तुम किसे मारनेके लिये तैयार हुए हो? शुद्ध और गाढ़ प्रेमके कारण ही वह मुझे हलकी ज़बानसे पुकारता है? इस वास्ते तुम इसे दोष मत दो। उसके इस व्यवहारसे मेरा प्रेम उसपर और भी अधिक बढ़ रहा है। प्रेमसे चाण्डाल भी मुझे अपना सकता है। पर प्रेम रहित ब्राह्मण भी मेरे किसी उपयोगका नहीं।"

मुझपर जिसकी भक्ति नहीं, उसका लाया हुआ अमृत भी मुझे अग्राह्य है, मुझे वह हलाहल विषके समान भाता है। जिसका मुझमें अनन्य प्रेम है, जो हृदयसे मुझे चाहता है उससे लाया हुआ विष भी मुझे मान्य है।"

शवरीके चाण्डाल होते हुए भी रामचन्द्रने उसके जूठे बेर खाये। पवित्र प्रेम, आदर्श भक्ति यह ऐसा निर्मल जल है,

जिसमें स्नान कर लेनेसे कुल अपवित्र वस्तुएं पवित्र हो जाती हैं। "अष्टधा भक्ति यदि म्लेच्छमें भी हो तो उसे भी भक्त शिरोमणि, ज्ञानी एवम् सन्यासी समझना चाहिए।" (गरुड़ पुराण अ० २३१ श्लो० ६)

३. भक्ति करनेमें गरीब और धनवानका भेद नहीं होता। प्रभु गरीबका भाई (दीनबन्धु) है, यह बात तो बहुत समयसे प्रचलित है क्योंकि गरीब मनुष्यका सदाचारी रहना बहुत सहज है। श्रीमान् लोगोंको चारों ओरसे लालच घेरे रहता है। जैसे महात्मा ईसाने कहा है—"सुईके छेदमेंसे ऊंट निकल जाय, यह भी संभव है पर धनाढ्यका दिल भक्तिमें लगना कठिनतर है।"

श्रीमद्भागवतमें एक सुन्दर कथा है। उसमें कलि और परीक्षितका संवाद लिखा है। जब उस राजाके राज्यमें कलिको कहीं स्थान न मिला, तब उसने राजाके समीप जा, दोनों हाथ जोड़ स्थान पानेके लिये प्रार्थना की। राजाने उत्तर दिया—"मेरे राज्यमें तेरे लिये कोई नियत स्थान नहीं है।" तब कलिने दुखी होकर कहा:—"कृपा कर मुझे रहनेके लिये तो स्थान दीजिये।" राजाने दयार्द्र हो, उसे जुआघर, पीठा, वेश्याका मकान और पलंगका पावा ये चार स्थान रहनेके लिये दिये। कलिने विचार किया कि, चारों स्थानोंपर एक ही समय रहना अति कठिन है। यह विचार कर उसने राजासे प्रार्थना की—"हे राजन्! ऐसा स्थान बतलाइये जहाँ ये चारों ही विद्यमान हों।"

राजाने यह सुन उसे एक सोनेका गोला दिया और कहा—"इस वस्तुमें ये चारों ही विद्यमान हैं, बल्कि "बैर" नामक एक विशेष गुणसे भी यह सम्पन्न है।"

धन अनेक दुर्गुणोंका मूल है। धनाढ्य समाजमें सच्चे भक्त भाग्यसे ही मिलते हैं, अर्थात् एक प्रकारसे प्रायः अभावसा है। ईश्वरके दरबारमें धनकी क़दर नहीं। भक्तिके लिये नम्रताकी आवश्यकता है। बाहरी आडम्बरोंसे, कुछ स्वार्थ नहीं सरता। दरिद्र होते हुए भी जो मनुष्य सच्चे अन्तः करणसे ईश्वरकी भक्ति करता है, उससे प्रेम करता है, उसे ही अशरण शरण भगवान् प्राप्त होते हैं। परन्तु केवल कर्मकाण्डकी रीतिसे कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता।

"हे प्रभो! तू केवल अपने भक्तोंके प्रेम पाशमें बंधा हुआ है। भक्ति और प्रेमसे रहित शुष्क क्रियाओंसे तेरा सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं होता। द्रव्यसे तुझे कौन खरीद सकता है?" दुर्योधनके मीठे पकवानोंकी अपेक्षा दीन बिदुरकी शाक भाजी ही भगवानको अच्छी लगी थी।

यद्यपि विद्या प्राप्त करनेसे भक्तिका मार्ग बहुत प्रशस्त हो जाता है, तोभी भक्ति करनेके लिये विद्याकी भी कोई विशेष आवश्यकता नहीं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस इसके एक उत्तम उदाहरण हैं। उन्होंने क्रमसे किसी भी शिक्षाका सम्पादन नहीं किया था तोभी आज हममें कौन ऐसा ज्ञानी है जो उनका मुकाबिला कर सके। बड़े बड़े पण्डित भी उनके चरणोंके

प्रतापसे ज्ञानका सम्पादन कर रहे हैं। ऐसे महापुरुष तो प्रकृतिकी पवित्र पुस्तकका पठन करते हैं। और वह भी इस प्रकार कि, जिससे पंडित कहलानेवाले लोग उनके आगे शीश झुकाते हैं। ईश्वर सबका पिता है, और अपने पिताकी प्राप्तिके लिये बड़े बड़े ग्रन्थोंके पढ़नेकी कोई आवश्यकता नहीं। अपढ़ भरत अपने हृदयके शुद्ध प्रेमका झरना खुले दिलसे प्रभुकी ओर बहाता है, और ईश्वर धीरे धीरे उसे प्रकृतिके गूढ़ तत्त्वोंको बतलाकर आश्चर्य चकित करते हैं।

पारधिके आचरणमें क्या विशेषता थी, ध्रुवकुमारको उम्र कितनी थी, गजेन्द्रने कितनी विद्याका सम्पादन किया था, कुब्जा कितनी सौन्दर्य्य सम्पन्न थी, सुदामा कितना धनाढ्य था, बिदुरका कुल कितना ऊँचा था, उग्रसेन कितना पराक्रमी था ? कुछ भी नहीं। पर तोभी प्रभु उन सबको प्राप्त हुए। वे तो केवल भक्तिकी ओर देखते हैं, केवल प्रेमसे तृप्त होते हैं। वे आचरण, वय, विद्या, सौन्दर्य्य, धन, कुल, एवम् पराक्रमकी ओर नहीं देखते।

केवल वैराग्यसे भक्ति प्राप्त नहीं होती, उसके लिये अटल श्रद्धाकी आवश्यकता है।

एक समय बैकुण्ठ जाते समय नारद ऋषिको मार्गमें एक तपस्वी मिला। उस तपस्वीका आधा शरीर धूलिमें गड़ा हुआ था। उसने नारद ऋषिसे कहा—महर्षे ! यदि आप बैकुण्ठमें जायँ तो भगवानसे पूछियगा कि, बैकुण्ठमें पहुँचनेके लिये ऐसी

दशामें मुझे कितना समय लगेगा ?" उसे आश्वासन दे, ऋषि आगे बढ़े। इतनेमें शान्तिराम नामक एक साधारण व्यक्ति मिला। उसने पूछा—"क्या आप बैकुण्ठ जा रहे हैं ?" नारद ऋषिके स्वीकार करनेपर उसने चिल्लाकर कहा—"आप ईश्वरसे पूछियेगा कि, भजन, पूजन और तपश्चर्यासे रहित मेरा यह गाँजा बैकुण्ठमें पहुँच सकता है या नहीं ?" बैकुण्ठमें पहुँचकर स्तुति करनेके पश्चात् नारद ऋषिने दोनों प्रश्नोंको भगवानसे पूछा—शान्तिरामका नामोच्चारण करते ही भगवानके चेहरेकी आकृति बदल गई। वे बोले—"हे नारद! इस शान्तिरामके सिवाय मेरा अनन्य भक्त और कोई नहीं है, पर तुम जिस पुरुषकी बात कह रहे हो वह कौन है ?" नारद ऋषिने वापस आकर, उन दोनोंको संवाद सुना दिये। शान्तिराम तो अपने सन्देशेको सुनकर मारे आनन्दके नृत्य करने लगा, और कहने लगा—"अहा! शान्तिराम! अब तू आनन्द कर, तेरे गाँजेको बैकुण्ठमें स्थान मिल गया है।"

इस प्रकार श्रद्धासे सब कार्य सिद्ध होते हैं। नारद ऋषिने भक्ति सूत्रमें कहा है—"ईश्वरके सच्चे भक्त जाति, रूप, कुल, विद्या, जन्म, धन और कर्मकाण्ड आदि संकुचित वस्तुओंका सम्मान नहीं करते।" (सू० ७२) जिस प्रकार ईश्वरकी दृष्टिमें सब मनुष्य समान होते हैं, उसी प्रकार उसके भक्तोंकी दृष्टिमें भी सब समान होते हैं। भक्त लोग किसीमें भी भेदभाव नहीं रखते।

कई लोग ऐसा भी कहते हुये दृष्टिगोचर होते हैं कि—"भाई! हम तो संसारकी झंझटोंमें इतना फँस गये हैं कि उनके मारे हमसे भक्ति नहीं हो सकती। परन्तु यह प्रमाण निरा झूठसे सना हुआ है। क्योंकि संसारके व्यवहारमें उसकी झंझटोंमें फँसकर भी कई संसारी सिद्ध हो गये हैं। श्री चैतन्यदेवके परम शिष्य उड़ीसाके स्वामी (राजा) के प्रधान हिसाबी थे। उनके मस्तकपर एक राज्यका भार था—उसके शासनका दार मदार था। इतने झगड़ोंमें फँसे रहनेपर भी वे उनके (चैतन्यके) मुख्य शिष्योंमेंसे एक थे। श्रीचैतन्यका दूसरा शिष्य नित्यानंद भी गृहस्थाश्रमी था। एक समय "मुकुन्द" नामक चैतन्यदेवका शिष्य गदाधरको साथ लेकर "पुण्डरीक" भक्तके यहाँ गये। घरमें घुसे पश्चात् गदाधरको विदित हुआ कि, पुण्डरीक अपने जीवनको ऐश आराममें व्यतीत करता है। उसके समीप जाकर बैठते ही उसने देखा कि, पुण्डरीक सफेद बर्फके समान चद्दरसे आच्छादित एक हाथ ऊँची गद्दीपर लेट रहा है। उसका कमरा सुगंधित पदार्थोंकी खुशबूसे महक रहा था। इसके सिवाय और भी भाँति भाँतिकी विलास सामग्रियां वहाँ मौजूद थी। गदाधर यह सब विपरीत चरित्र देख विस्मयमें डूब गया ; क्योंकि उस समय पुण्डरीक एक बड़ा भक्त समझा जाता था। गदाधरके मनमें उसके प्रति और ही भावना उठ रही थी। मुकुन्द फौरन उसकी हार्दिक भावनाको समझ गया और शीघ्र ही उसने ईश्वरका नामोच्चारण करना

प्रारम्भ किया। वह श्रवण करते ही पुण्डरीक समाधिमें लीन हो गया। और उस गद्दीपरसे नीचे उतर गया। गदाधर यह घटना देख भौंचक्का हो गया और जाते समय उसने पुण्डरीकसे क्षमा मांगी।

संसारी लोग ईश्वरकी भक्ति क्यों नहीं कर सकते? यह संसार भी तो प्रभुकी ही रचना है। क्या इस अखिल विश्वमें ईश्वरका साम्राज्य नहीं है? ईश्वर हीने हमें मातापिता, सगे सम्बन्धी आदि सब कुछ दिये हैं? तो क्या ईश्वरके द्वारा रचित सम्बन्धियोंसे सम्बन्ध रखनेसे ही हमारा और ईश्वरका नाता टूट जायगा? उसकी आज्ञाका पालन करनेसे ही हमें यह विपत्ति उठाना पड़ेगी। ज्योंही हम अपने हृदयको ईश्वर भक्तिके अर्पण कर देंगे, त्योंही लालच एवम् अन्य दुर्गुणोंसे हमारा उद्धार हो जायगा। प्रभु भक्तिमें लीन रहकर संसारी मनुष्य भी पाप वासनाओंसे अलग रह सकता है।

जिस प्रकार नर्तकी सिरपर घड़ा रखकर नाना प्रकारके तालोंसे अंग लचकाती हुई नृत्य करती है, लेकिन तौभी उसका ध्यान सिरपर रक्खे हुए घड़ेपर ही रहता है उसी प्रकार सच्चा भक्त अपने कार्य्योंमें उलझा रहनेपर भी हमेशा प्रभु चरणोंमें निमग्न रहता है।

जिस समय शुकदेवजी जनक राजाके पास योगाभ्यास सीख रहे थे, उनके मनमें यह शङ्का नित्य बनी रहती थी कि—"ऐसा संसारी मनुष्य किस प्रकार ईश्वरभक्त हो सकता है?"

जनक राजाको जब यह बात विदित हुई तो उन्होंने तेलसे लबालब भरा एक कटोरा शुकदेवजीको देकर कहा,—"इसे लिये हुए तुम सारे मिथिला नगरीमें घूम आओ। पर सावधान! इसमेंसे तेलका एक भी बून्द ज़मीनपर न गिरने पाये।" शुकदेवजी नगर देखकर वापिस लौटे, और कटोरेको जनक राजाके सम्मुख रख दिया। जनकराजने पूछा—"तुमने नगरमें क्या क्या देखा?" शुकदेवजीने जो कुछ देखा था बतला दिया, तब जनकने कहा,—"वत्स! पर चलते वक्त तुम्हारे कटोरेमेंसे एक बूँद भी तेल क्यों नहीं गिरा?" शुकदेवजीने उत्तर दिया,—"राजन्! मैं चारों तरफ देखता तो था पर मेरा ध्यान इस कटोरेकी ही ओर था। जनकने कहा :—

"ठीक इसी प्रकार, सांसारिक कार्य्योंमें लगे रहने पर भी मेरा मन ईश चरणोंमें लीन रहता है।"

प्रत्येक गृहस्थीका कर्त्तव्य है कि जनकके समान बने। ईश्वरका वास्तविक भक्त तो वही है जो संसारी कार्य्योंमें लगा रहने पर भी अपने मनको ईश चरणोंमें लीन रखता है, ऐसे मनुष्य किसीसे भय नहीं खाते। जहाँ साधारण मनुष्यका हृदय एक क्षुद्र पवनके धक्केसे ही चञ्चल हो जाता है वहाँ सच्चे भक्तका हृदय गिरिराज हिमालयके पतनसे भी क्षुब्ध नहीं हो सकता। उनके हृदयपर सुख दुःखका रंचमात्र भी असर नहीं होता।

जनकराज कहते हैं कि,—"मैं अनन्त द्रव्यका स्वामी हूं, तोभी "मेरा है" (अहंभाविक शब्द) ऐसा मुझे कुछ भी प्रतीत

नहीं होता। चाहे सारी मिथिला नगरी जलकर भस्म हो जाय पर इससे मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ता। (महाभारत शां० प० अ० १७ श्लो० २)

बंगालमें रामतनु लाहिड़ी नामक मेरे एक मित्र थे। उनका सबसे बड़ा लड़का मेडिकल कालेजमें एम० ए० के द्वितीय वर्षमें पढ़ता था। वह बड़ा बुद्धिमान और परिश्रमी था और प्रत्येक परीक्षामें उपहार और पुरष्कार पाता था। निर्दयी कालने एकाएक उसे ग्रस लिया। उसी दिन हमलोग कई मित्रोंने उनके घरपर एकत्रित होनेका निश्चय किया था। दो मित्र संध्या होते होते पहुँच भी गये थे। उन्हें इस शोकजनक घटनाका कुछ भी समाचार नहीं मिला था। उनमेंसे एक जिस स्थानपर सब लोग इकट्ठे होनेवाले थे उसकी ओर जाने लगा। यह देख रामतनुने उससे पूछा—"तुम कहाँ जा रहे हो?" उत्तरमें मेरे मित्रने कहा कि—"इस कमरेमें वर्त्तमान पत्र लेनेको जा रहा हूँ।" उस गृहस्थने शान्त चित्तसे कहा,—"इस कमरेमें आज मत जाओ, वहाँ मेरे लड़केका शव पड़ा है।" इतना सुनते ही वह निस्तब्ध हो गया। और वहाँसे लौटकर अपने नियत स्थानपर आकर चुपचाप बैठ गया।

इतनेमें रामतनु बाबू उसके पास आकर शान्तिपूर्वक बोले, मानों उनपर कोई घटना ही न घटी हो—"चलो आज हमलोग अपनी सभा दीवानखानेमें करें।"

कहिये! इस मनुष्यके प्रति आपके हृदयमें कैसे भाव उदित

हुए हैं ? जबतक हृदय प्रभुके पवित्र प्रेमसे परिपूर्ण न हो जाय, तबतक क्या कोई ऐसा कर सकता है ?

कुछ दिनके बाद रामतनु बाबूका दूसरा लड़का भी मर गया। उनके मित्रोंने उनसे पूछा---"क्या आपको इन पुत्रोंके लिये दुःख नहीं होता ?" उन्होंने उत्तर दिया, "ईश्वरकी दी हुई वस्तुपर मेरा क्या अधिकार है ?" फिर उनकी एक कन्या भागलपुरमें मर गई। जब उसके शोकमें उनकी स्त्री रोने लगी, तब वे उसे सान्त्वना देकर समझाने लगे—"तू क्यों रोती है ? कल्पना कर कि, इस समय भी हमारी लड़की भागलपुरमें विद्यमान है। लेकिन तब तो तू उससे मिलनेकी इच्छा करेगी ? नहीं, कुछ समय राह देख। तू उसे पा सकेगी और फिर कभी उससे विछोह न होगा।"

एक मनुष्यका पुत्र मृत्यु शय्यापर पड़ा हुआ था, जब उस मनुष्यकी पत्नी रोने लगी तो वह बोला,—"देख ! तू रो रही है, अर्थात् तुझे ईश्वरमें विश्वास नहीं है, इसे देखकर मुझे जितनी व्यथा हुई है उससे आधी भी इस पुत्रके मरनेपर न होगी।" ऐसे शब्दोंको सुन किसे आश्चर्य न होगा ? उपरोक्त घटनाओं और पुराने दृष्टान्तोंसे सिद्ध होता है कि,—"गृहस्थ भक्ति नहीं कर सकते।" यह बात बिलकुल बेजड़ है, बालूका किला है। प्रत्येक मनुष्यको अपने हृदयसे यह सिद्धान्त निकाल डालना चाहिये। क्योंकि ईश्वर तो अपने सम्मुख झुकनेवाले प्रत्येक प्राणीकी सहायता करता है। "संसारी जीवोंके उद्धारके

लिये उसने कोई मार्ग ही न रक्खा" ऐसा विचार करना केवल उस सर्वशक्तिमान प्रभुमें दोष निकालना है। प्रभु तो हमारे सब कर्त्तव्योंका अधिष्ठाता है।

तुच्छ भक्तिका प्रारम्भ करके भी किस प्रकार मनुष्य उच्चाति-उच्च शिखरपर पहुँच सकता है, स्वयम् दुष्टसे दुष्ट मनुष्य भी शुद्ध अन्तःकरणसे भक्ति करने पर किस प्रकार अनन्त सुखको पा सकता है, इसका दिग्दर्शन ऊपर दिया जा चुका है। श्रीकृष्ण भगवान भी जब इसका समर्थन करते हैं तब हे मित्रो! क्यों निराश होते हो? उठो कमर कसो। प्रयत्न करो। वह दयालु परमात्मा अवश्य तुम्हारे प्रयत्नमें सहायता करेगा। अधमसे अधम मनुष्यको भी भक्ति करनेसे मुक्ति मिलेगी !!!
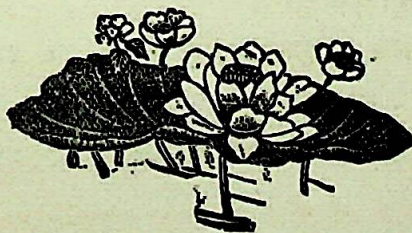
तीसरा अध्याय

भक्तिके मार्ग

"महान पुरुषोंकी कृपासे अथवा ईश्वरकी दयासे भक्ति प्राप्त होती है।" (ना० भ० सू०) ऐसी कृपा किसपर और किस समय हो सकती है; यह मालूम नहीं। इसके कितने ही दृष्टान्त हैं।

एक समय नीच कुलका एक मनुष्य राजाके यहाँ रात्रिके समय चोरी करनेके दुष्ट विचारसे गया। और उस महलके कोषागारमें जहाँ राजा सोया हुआ था, घुसनेका अवसर देखने लगा। इतनेमें राजा रानी परस्पर बातें करने लगे जिसे चोर ध्यानपूर्वक सुनने लगा—

रानी—"नाथ! कुमारी बड़ी हो गई अब उसका विवाह कर देना चाहिये।"

राजा—मैं स्वयं इस बातकी खोजमें हूँ पर योग्य वर नहीं मिल रहा है।

अन्तमें रानीके बहुत आग्रह करनेपर राजाने कहा—"प्रिये! कल प्रातःकाल अपने समीपवर्ती वनमें जो योगी सबसे पहले मिलेगा, उसीको कन्यादान कर अपना आधा राज्य दे दूंगा।"

ये बातें सुनकर चोर विचार करने लगाः—"यदि मुझे योगी बननेसे ही राज्य मिलता है, तो फिर चोरी समान नीच काम क्यों करूं ! एक तो पकड़े जानेका डर दूसरे जानकी जोखिम । भला चिन्तामणि रत्नके होते हुए कांचके टुकड़ेका क्यों अवलंबन करूं ? चलकर पासहीके वनमें योगी बनकर क्यों न बैठ जाऊँ जिससे आधा राज्य और कन्या सहजमें ही मिल जाय ?"

ऐसा विचार कर वह वहाँसे उठा । शीघ्र ही अपने मकान-पर गया और योगीका वेश धारण कर पौ फटनेके पहले ही जंगलमें जा, वक ध्यान लगा कर बैठ गया । प्रातःकाल होते ही राजा अपने रिसाले सहित वहाँ आ पहुँचे । योगीराजको देखकर वह बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्हें साष्टांग प्रणाम किया । परन्तु इससे ध्यानस्थ योगी बिलकुल चलायमान नहीं हुए । राजा उनके पास बैठकर उनके ध्यान मुक्त होनेकी बाट जोहने लगे । अन्तमें महात्माने नेत्र खोले । राजाने उसे फिर दंडवत् किया, और अपने नगरमें चलनेकी प्रार्थना की । बहुत आनाकानी करनेके बाद महात्माने चलना स्वीकार किया । राजा खूब धूमधामके साथ उसे अपने नगरमें ले आये और अपने महलमें ठहराया । रानी स्वयं अपने हाथसे उसे पंखा झलने लगीं । बहुत कुछ आगत स्वागत करनेके बाद रानीने हाथ जोड़कर कहाः—"महात्मन् ! हमारी एक सुन्दर कन्या है, यदि आप उसका पाणिग्रहण कर लें तो हमलोग आपके चिर बाधित

रहेंगे। और साथ ही दहेज स्वरूप इस राज्यका आधा भाग अर्पण करेंगे।"

यह घटना देख वह चोर योगी विचार करने लगा:—"अहा! योगीका वेश मात्र ही धारण करनेसे, कपटकी समाधि लगानेसे ही राजा और रानी मुझे शीश झुकाते हैं, राज्यकी आधी सम्पदा मुझे दान करनेको तैयार हैं तब यदि मैं सच्चा योगी बन जाऊँ, वास्तविक योगको धारण कर लूं, तो फिर क्या शेष रह जाय? तब तो संसार मेरे चरणोंपर शीश झुकायेगा।"

यह विचार आते ही वह गद्दीपरसे उतर पड़ा और नगरको छोड़ जंगलमें चला गया। ईश्वरने उसके हृदयके अन्धकारको दूर कर दिया, जिससे उसका हृदय प्रकाशमय हो गया और उसने प्रभुके सच्चे प्रेमका दर्शन पाया। इस संसारके क्षुद्र पदार्थ अब उसे मोहित नहीं कर सकते। दुनियांकी विलास सामग्रियां अब उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकतीं। इस नश्वर जगत्की चटकीली वस्तुएं उसे मुग्ध करनेमें असमर्थ हैं। कहाँ तो वह चोरी करने गया—और कहाँ, सिद्ध योगी बन गया।

एक दृष्टान्त और लीजिये। एक शिकारी पक्षी मारनेकी इच्छासे सरोवरके किनारे जा रहा था। उसके पास तीर कमान देख किनारेके पक्षी चीं, चीं करते उड़ते जा रहे थे। जहाँ कहीं वह जाता था, एक भी पक्षी न रह जाता था। इससे वह घबराकर एक वृक्षकी ओटमें छिप गया।

कुछ समय पश्चात् उसी सरोवरपर एक वैष्णव आया, और स्नान करने लगा। उसे देखकर एक भी पक्षी न उड़ा। शिकारीने विचार किया—"यदि मैं भी वैष्णवका रूप धारण कर वहाँ जाऊँ तो सहजहीमें विना शस्त्रके ही कार्य्य वन जाय।" ऐसा विचार कर कपट वेष धारण कर वह वहाँ गया। पक्षी एक भी न उड़े। यदि वह चाहता तो सबको मार लेता, लेकिन उसके हृदयमें उसी समय एक सद्भावना उत्पन्न हुई। वह विचार करने लगा:—"अहा! ये सब पक्षी मेरेपर विश्वास कर, मुझे अपना अभयदाता समझ, यहाँ आनन्दसे विचरण कर रहे हैं। क्या विश्वासघात कर मैं इनपर प्रहार करूं? क्या मेरी आत्मा इस अघोर कर्मको करना स्वीकार करेगी? नहीं, इस तुच्छ जीविकाके लिये, इस पापी पेटके लिये, मैं ऐसा हेय कार्य्य नहीं कर सकता, अपने कर्त्तव्यपर लात नहीं मार सकता।"

इस विचारके आते ही उसके हृदयकी प्रवृत्तियां एकदम पलट गईं। उसके दुष्ट भाव एकदम वदल गये। क्षणभरमें इतना परिवर्तन!

वाल्मीकि ऋषिका दृष्टान्त जगत् प्रसिद्ध है। कुछ समय हुआ एक ऐसी ही घटना हुई जोकि, उल्लेख्य करने योग्य है।

"एक नीच जातिका मनुष्य पक्का शराबी था। औंर भी कई प्रकारके व्यसन उसमें थे। वह इतना दुष्ट था कि, एक बार एक घड़ेमें जहरीला सांप रख उस (सर्प)को अपने एक शत्रुपर

छोड़नेके लिये चला। पर अकस्मात् जिस समय वह नदीके पुलपर जा रहा था, पुल टूट गया और वह नदीमें गिर पड़ा। इस आकस्मिक् घटनासे उसके दुश्मनके प्राण बच गये। एक दिन वह शराबमें मस्त होकर जा रहा था कि, तरंग आ जानेसे धक्के खाते हुए एक स्थानके सामने ठहर गया। इतनेमें पास हीके एक स्थान परसे किसीने कहा कि—"हे ईश्वर! दयालु परमात्मा! तू अपने इस निर्बल एवम् गरीब बालकपर दया कर इसे सहायता दे, इसे ऐसा आशीष दे जिससे इसके जीवनका उद्धार हो जाय।" इन शब्दोंको उस शराबीने सुना। इनका उसकी आत्मापर विचित्र प्रभाव पड़ा। थोड़े ही समयमें उसका काया-पलट हो गया। उसी दिनसे उसने अपने जीवनके शेष दिनोंको सदाचारपूर्वक व्यतीत करना निश्चित कर लिया। इस समय वह एक ग्राममें अपने जीवनको सदाचारपूर्वक एक वैद्यकी हैसियतसे व्यतीत कर रहा है। और वैद्यगीरीसे जो कुछ मिल जाता है, उसीसे सादगीपूर्वक अपना निर्वाह करता है और जो कुछ बचता है उसका दान कर देता है।

श्रीचैतन्य देवके परम शिष्य नित्यानन्दकी कृपासे "जागाई" और "माधाई" नामक दो लुटेरोंका जीवन कितना शुद्ध एवम् पवित्र हो गया यह कथा संसार प्रसिद्ध है।

एक बँगाली काव्यमें लिखा है कि—"ईश्वरकी कृपा तो हमारे पर हमेशा रहती ही है क्योंकि उसकी कृपा संसारपर अस्खलित रूपसे बहा करती है। लेकिन हमारी चञ्चलता ही हमें प्रभुसे

अलग रखती है। जिसको ईश्वरकी दयाका अनुभव करनेकी इच्छा होती है, उसे किसी न किसी मार्गसे वह मिल ही जाता है।"

हमें ईश्वरकी सदा आवश्यकता बनी रहती है। केवल हमें उसके लिये आतुर होना चाहिये। ज्योंही हम उसकी ओर आतुर होंगे त्योंही हमारे सब पापोंका बँधन कट जायगा और हमारी अन्तरात्मा ईश्वरकी ज्योतिसे उज्ज्वल हो जायगी।

स्वामी रामकृष्ण परमहंसका कहना है कि—"ईश्वर चुम्बक है, और मनुष्य लोहेका एक रेणु। वह रेणु हमेशा चुम्बककी ओर आकर्षित होता रहता है। पर उसपर पापरूपी काठ चढ़ा हुआ है जिससे आकर्षण नहीं हो सकता। पापरूपी काठको चीरकर दूर फेंक दो। तब तुम्हारी निर्मल आत्मा आपसे आप उस परमात्माकी ओर खिंच जायगी।

पापरूपी धूलको प्रायश्चित्त एवम् प्रार्थनाके जलसे धो डालो। आत्मारुपी दर्पणपर जो मैल चढ़ रहा है, उसे साफकर उसमें परमात्माके प्रतिबिम्बको देखो। उसकी दया और गुणोंका अनुभव तुम्हें आप ही आप हो जायगा। आप ही आप उस अनन्त दिव्य परमात्मामें लीन हो जाओगे।

इसके लिये विद्या, धन, सम्पत्ति, सौन्दर्य्य, शौर्य्य आदि किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं।

——

चौथा अध्याय

भक्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्न और उनके नाशके उपाय :—

(१)

भक्तिका मार्ग कंटकोंसे परिपूर्ण है। उन काँटोंको उखाड़ डालनेकी नितान्त आवश्यकता है। उन विघ्नोंमें कितने वहिरंग हैं और कितने अन्तरंग हैं। बाह्य विघ्नोंमें मुख्य "कुसंगति" है। नारद ऋषिने भक्ति-सूत्रमें कहा है कि—"कुसंगतिका हर तरह त्याग करो।" (भ० सू० ४३)

शास्त्रोंकी दृष्टिसे कुसंगतिके अन्तर्गत दुःशील अभिनय, अश्लील गायन, और पशुओंके मैथुन व्यवहारका अवलोकन आदि सबोंका समावेश है। संक्षिप्तमें—जिन कारणोंसे मलिन विचारोंकी उत्पत्ति होती है वे सब कारण कुसंगतिके अन्तर्गत आ जाते हैं। उत्तम चित्रोंके अवलोकनसे यदि हृदय पवित्र होता है; उत्तम पुस्तकोंके पढ़नेसे यदि हमारी आत्माका विकास होता है; उत्तम गायन अथवा भाषणसे यदि हृदयमें शुभ विचार उत्पन्न होते हैं तो फिर, अश्लील पुस्तकोंसे, निर्लज्ज चित्रोंसे, या अश्लील गायनोंसे यदि आत्मा अपवित्र और मलिन

हो जाय तो आश्चर्य्य क्या? कालेजमें अध्ययन करनेवाले एक सुशील विद्यार्थीकी कल्पना शक्तिपर संस्कृतकी शृङ्गार रस पूर्ण पुस्तकोंके अध्ययनसे इतना असर पड़ गया कि, उसे दुःस्वप्न आने लगे। यह युवक अपने जीवनको पवित्र बनानेके लिये प्राणपणसे प्रयत्न करता था, पर तोभी उसे ऐसा अनुभव हो गया। इस दृष्टान्तसे अश्लील पठनका कैसा असर पड़ता है, स्पष्ट मालूम होता है। अनीतिसे भरे हुए गायनोंका असर तो इससे भी अधिक होता है, क्योंकि पढ़नेका संगतिकी अपेक्षा असर गहरा पड़ता है।

कुसंगतिके समान आत्माकी अवन्नति करनेवाला कारण दूसरा कोई नहीं। पापके मार्गपर आरूढ़ चाहे जिस मनुष्यसे आप पूछेंगे तो आपको विदित हो जायगा कि उसकी अधोगति-का वास्तविक कारण कुसंगति ही है। उत्तम मार्गका अव-लम्बन करनेवाले मनुष्य बहुत ही थोड़ी संख्यामें मिलते हैं। पर कुमार्गगामी मनुष्योंकी कमी नहीं। इसका कारण यह है कि धार्मिक जीवन वितानेमें बहुतसी विघ्न बाधायें आ जाती हैं। यदि आप धार्मिक या पुनीत जीवन व्यतीत करनेका संकल्प करेंगे तो आपको अनेक विघ्नोंका सामना करना पड़ेगा। लोग आपकी निन्दा करने लगेंगे। इतना ही नहीं कई अश्ली-लताके गायन सुनावेंगे, दुःशील चित्रोंको सम्मुख रक्खेंगे, बीभत्स शब्द आपके सामने बकेंगे। यह सब किस लिये करते हैं? केवल आपको भक्तिके मार्गपरसे लौटानेके लिये! कितनी

ही बार तो माता पिता भी अपनी सन्ततिको भक्ति मार्गपर जानेसे रोकते हैं। कितनी घृणाकी बात है।

कुसंगति सब अनर्थोंका मूल है। भक्तिके पवित्र मार्गमें इसके समान दूसरा कोई भी विघ्न नहीं। नारद ऋषि कहते हैं—"कुसंगतिसे काम, क्रोध, मोह, विस्मृति, आदि दुर्गुणोंका आविर्भाव होता है, बुद्धिका नाश हो जाता है और अन्तिम परिणाम सर्वनाश होता है (भ० सू० ४४)

दुर्जनोंका साथ, अश्लील पुस्तकोंका पठन, अश्लील गायनोंका श्रवण, विकृत वृत्तियोंको उत्तेजना देते हैं। और विकार वृत्तिके वशवर्ती मनुष्यके मनोरथमें अन्तराय आ जानेसे उसे अवश्य क्रोध उत्पन्न होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—"इन्द्रियोंके विषयोंकी चिन्ता करते करते उनके प्रति आसक्ति, आसक्तिसे इच्छा, इच्छासे काम, और कामसे क्रोध उत्पन्न होता है।"

इसलिये ऐहिक भोगोंकी इच्छा न करना चाहिये। यही नहीं बल्कि जो इन भोगोंमें लिप्त हो, उसका साथ भी न करना चाहिये। मानव जीवनके सभी कर्त्तव्य हमें ईश्वरसे प्राप्त हैं। इसलिये छोटे बड़े सभी कार्य्योंमें हमें उसका स्मरण करना चाहिये। केवल इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिए, अथवा धनकी प्राप्तिके लिये हाय हाय, करनेसे कुछ भी कार्य्य नहीं होता। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—"क्रोधसे मोह, मोहसे विभ्रम, विभ्रमसे बुद्धिनाश एवम् उससे सर्वनाश हो जाता है।"

मोहसे मानव दृष्टि कलुषित हो जाती है, अर्थात् वह सत्य वस्तुओंको नहीं पहचान सकती। और उससे भले बुरेकी परीक्षा करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है, जिससे पुनीत जीवन व्यतीत करनेकी आशाका अन्त हो जाता है। यदि हम अदालतमें अंकित अपराधोंका अवलोकन करें, तो उनमेंसे अधिकांश बुद्धि नष्ट होनेके कारण स्वरूप ही मिलेंगे; पहले काम और द्रव्य, लालसा और विषयवासनाका उद्भव होता है। और उसके पश्चात् क्रोध होकर अंतिम परिणाममें मोहरूप हो जाता है। इस प्रकार सद्प्रवृत्तियोंका जड़मूलसे नाश हो जानेके कारण मनुष्य स्वभाव अयोग्य अपराध करने लायक एक क्षुद्र पशुवत् बन जाता है। मनुष्य स्वभावका पारखी कवि शेक्सपियर कहता है—"किसी दूसरी उत्तेजक सामग्रीके न रहनेपर भी युवावस्था आप ही आप अपराध करने लग जाती है।" क्या कोई भी युवक इसपर अविश्वास प्रगट कर सकता है? इस प्रकार जब मानव स्वभाव प्रकृतिसे ही इतना निर्बल है, तो फिर कुसंगति करके, जलतेमें घृत डालनेका साहस कौन बुद्धिमान करेगा? नारद ऋषि इसका समर्थन करते हुए कहते हैं—"मानव हृदयमें प्रारम्भसे तो पाप वृत्तियां पानीकी लहरके समान छोटी छोटी होती हैं, पर कुसंगतिके प्रभावसे कुछ समयमें वें समुद्रके समान विशाल रूप धारण कर लेती हैं।

हमलोगोंमें कोई ऐसा विरला ही होगा जिसके हृदयवाटिकामें विकारके कांटे न लग रहे हों, जिसके हृदयमें इच्छाओंकी

बाढ़ न आ रही हो। कितने ही बहादुर मनुष्य कहते हैं कि—"हममें पापको जीतनेका सामर्थ्य है, पापसे डरकर दूर भागनेवाले कायरोंमेंसे हम नहीं है।" इसको सिद्ध करके बतलानेके लिये ऐसे लोग एकबार कुटेवोंका स्वाद चखनेकी आवश्यकता बतलाते हैं। वे कहते हैं,—"लोभके पास होते हुए भी जिनका हृदय चलायमान नहीं होता वे ही धीर पुरुष हैं।" (कुमार संभव सर्ग, ७ श्लोक ३)

ईश्वर हमें ऐसी बहादुरीसे कोसों दूर रक्खे! ईसामसीह सदृश महात्माको भी जब शैतानने विचलित कर दिया, महात्मा बुद्धको भी तप करते करते जब मदनसे युद्ध करना पड़ा, और शंकर जैसे योगीश्वरके भी ध्यानमें जब काम विकारने खलल पहुँचाई तब अतीव हीन श्रेणीके हम अयोग्य पुरुषोंको कुसंगति रूपी विकारके दृढ़ किलेपर हमला कर, उसके नष्ट करनेका साहस करना सिवा विडंबनाके और क्या है? प्यारे मित्रो! ऐसा दुःसाहस करनेका कभी प्रयत्न न करना। ईसामसीह अपने शिष्योंसे प्रार्थना करवाता था,—"हे प्रभो! हमें लालचसे दूर कर, पापसे मुक्त कर।"

ऐसे कारणोंको, जिनके द्वारा हृदयमें विकार उत्पन्न हो, दूर हीसे नमस्कार करो। नारद ऋषि कहते हैं,—"स्त्री सम्बन्धी, धन सम्बन्धी, नास्तिक सम्बन्धी, और बैरी सम्बन्धी बातोंको कभी मत सुनो।" (ना० सू० ६३)

स्त्री सम्बन्धी या लम्पट बातें, धनवान् सम्बन्धी या उसके

भोग विलासकी बातें जिनके सुननेसे सादे जीवन और उन्नत विचारोंके पतनकी सम्भावना हो, किसी भी उच्च भावनाकी अनुपस्थितिमें धनवानोंका भय और दबाव, तथा वैभवके वर्णनसे प्रामाणिकपन और सदाचारका होम करके धन पानेकी इच्छा उत्पन्न होना सम्भव है। नास्तिकोंकी बातोंसे ईश्वरपर श्रद्धा घट जानेके कारण मनमें सन्देह उत्पन्न हो जाता है। दुश्मनोंकी बातें करनेसे शत्रुता उत्पन्न हो जाती है और उससे द्वेष, ईर्षा और वैर शोधनकी लालसा उत्पन्न होती है। ऐसा करनेसे भक्तिके मार्गसे मन हट जाता है।

जिससे मनमें काम, क्रोध, लोभ, इर्षा वगैरह विकार उत्पन्न हों ऐसी किसी वस्तुको देखना, सुनना, तथा स्पर्श न करना चाहिए। यही नहीं उसका विचार तक मनमें न लाना चाहिए। इसी कारणसे बुरी पुस्तकें पढ़नेकी, वीभत्स नाटक देखनेकी, अश्लील गायन सुननेकी और खराब चित्रोंके देखनेकी मनाई की गई है।

हमारे प्राचीन ऋषि मुनि शुभ कार्य्यके आरम्भके पहले शिष्यों सहित ईश प्रार्थना गायन करते थे—"हम कानों कोई भी अपवित्र वस्तु न सुनें न नेत्रोंसे देखें। ऐसा करनेसे इन्द्रियां स्थिर रहेंगी, और हम ईश्वरके गुण गान करते करते देवताओंके समान दीर्घायु एवम् सुखी होंगे।"*

* (१) ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरै-रंगै संतुष्टि वांस स्तनुभिः पश्येम देव हितं तदायुः।

इसका वास्तविक और सूक्ष्म अर्थ केवल इतना ही है कि यदि कभी कोई अपवित्र वस्तु देखी या सुनी न हो, तो हमारे मनमें अपवित्र विचारोंका उद्भव होना ही असम्भव है। और मनके पवित्र रहनेसे शरीर आरोग्य रहता है, एवम् आरोग्य रहनेसे दीर्घायु होना प्रकृतिका नियम है।

वाह्य रिपुओंका इतना विचार करनेके पश्चात् आन्तरिक रिपुओंपर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। इन आन्तरिक शत्रुओंको दमन करके वशमें करनेके बाद वाह्य शत्रुओंका उपद्रव नहीं हो सकता, यदि संयोग हो भी गया तो अति अल्प। लेकिन इस स्थितिपर पहुँचना वहुत कठिन है।

आन्तरिक शत्रु निम्न लिखित हैं:—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, चाञ्चल्य, व्यवहार कौशल, कौटिल्य-कपट, वाचालता, धर्मान्धता, वादवृत्ति।

कामसे मनुसंहिताके कथनानुसार दश दुर्गुणोंकी उत्पत्ति होती है। १ "मृगयावृत्ति २ जुगार ३ दिनमें ऊँघना ४ दुर्गंध करना ५ कुलटाकी संगति ६ मद्यसेवन ७ गायन ८ नृत्य ९ अत्यन्त वाद्य (वाजा) प्रियता १० अस्थिर चित्तता (म० सं० अ० श्लो० १७)

क्रोधसे ८ दुर्गुणोंकी उत्पत्ति होती है:—"१ अन्याय, २ अविचार, ३ उपद्रव, ४ ईर्षा, ५ असूया ६ छेतखड़ी ७ कटु भाषण और ८ क्रूरता।"

इन दुर्गुणोंसे वचनेके लिये वहुत प्रयत्न करना चाहिये।

पापसे बचनेके अनेक सामान्य उपाय हैं, और प्रत्येक दुर्गुणसे बचनेके लिये अलग अलग मुख्य उपाय भी हैं। पहले हम सामान्य उपायोंपर प्रकाश डालना चाहते हैं।

सामान्य उपाय

१—कितने ही पाप तो वाह्य संसर्गोंको लिये हुए ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये उन उपायोंसे हमेशा अलग रहना चाहिये। भीष्म पितामहने युधिष्ठिरसे एक वात कह अन्तमें उपदेश दिया था—"अमुक वस्तु कैसी है, उस वस्तुकी तवतक इच्छा नहीं हो सकती जवतक उसे देख, सुन, व स्पर्श न कर लें। इसलिये सर्वोत्तम मार्ग यही है कि, कल्पनाको दूषित करनेवाली किसी वस्तुको देखना, सुनना और स्पर्श करना न चाहिये।" (शान्ति पर्व १८०—३०, ३३)

२—जिन दुर्गुणोंमें तुम डूब रहे हो उनके भयङ्कर परिणामों-पर गौर करो। काम और क्रोधसे उपजनेवाले नाशक परिणामों-पर विचार करो। उनपर ईश्वरके द्वारा विहित दण्ड विधा-नोंका स्मरण करो। ज़ो मनुष्य अन्तःकरणसे ऐसी बातोंका विचार करता है वह कभी कुमार्गपर नहीं जा सकता। प्रत्येक पाप अपना विषम परिणाम इस संसारमें ही दिखला देता है। और जो मनुष्य हृदयमें इस बातका विश्वास करता है कि, पापी जीवनका अनिवार्य्य परिणाम कोई भारी व्याधि—मानसिक तथा शारीरिक निर्वलता, स्मरण शक्तिका लोप, जीवन क्रियाकी मन्दता, सौन्दर्य्यका नाश, आनन्दका अभाव और अन्तमें अकाल

मृत्यु—होता है वह इस भयङ्कर पापके प्रायश्चित सहनेका साहस कैसे कर सकता है? और जिस मनुष्यको दृढ़ विश्वास है कि, पापका फल इहलोक तथा परलोक दोनोंमें भोगना पड़ेगा, तथा जो हृदयमें निश्चय पूर्वक मानता है कि—"वीर्य्य रक्षा ही जीवन है—वीर्य्य हानि ही मृत्युका द्वार है, "ब्रह्मचर्य ही जीवनका स्तम्भ है, विषय वासना ही मृत्युका कारण है," तो क्या वह मनुष्य पापके मार्गपर जा सकता है?

३—दुराचारसे होनेवाली हानियों और सदाचारसे होनेवाले लाभोंकी तुलना करो। व्यक्ति अथवा राष्ट्रके इतिहास इस बातके प्रमाण हैं कि, लोभ जीवनको व्यतीत करनेसे, पापमय मार्गका अनुसरण करनेसे, अन्तमें विनाश होता है। इसके विपरीत जीवनको सदाचारमय बनानेसे अनन्त सुख प्राप्त होता है। इस सत्यकी साक्षीके लिये कहीं अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं है। अपने अन्तःकरणसे ही इस बातको पूछो, और उसपर विश्वास करो। साधारणसे साधारण सदाचारीके पैरोंमें, उसके सदाचारके प्रभावसे, बड़े बड़े राजाओंने मस्तक झुकाये हैं। और पापमय जीवन बितानेसे अधर्ममय राज्य करनेसे बड़े बड़े मुकुटधारी राजा भी निन्दा और हास्यके पात्र हुए हैं।

उदाहरणार्थ एक तरफ सुप्रसिद्ध वाल्मीकि, गुह तथा शबरी वगैरहके चरित्र एवं दूसरी ओर रावण, हिरण्य कश्यप एवं शिशुपाल आदिके चरित लोक प्रसिद्ध ही हैं?

भीष्म पितामह कहते हैं—"वास्तवमें गरीब वे ही हैं- जो दुराचरणके मार्गपर चढ़े हुए हैं; क्योंकि उनका जीवन एक दुःखसे दूसरे दुःखमें, एक भयसे दूसरे भयमें और एक मृत्युसे दूसरी मृत्युमें प्रवेश करता है ! और सच्चे श्रीमान् वे ही हैं जो सदाचारी होते हैं, काम क्रोधादि षड्रिपुओंको वशमें रखते हैं। उन्हें ही उत्तरोत्तर आनन्दकी प्राप्ति होती है। (महाभारत शान्ति पर्व अ० १८१ श्लो० ३, ४)

पश्चात्तापकी दावाग्नि जिसके हृदयमें जोरसे प्रज्वलित होती है, समाजकी फटकार जिसपर वज्रका कार्यक रर ही है, जिसके लोक और परलोक दोनों विगड़ गये हैं उससे अधिक दयाका पात्र और कौन होगा ? पापी मनुष्य बाहरसे कितना ही सुखी क्यों न दिखलाई पड़े, पर उसकी अन्तरात्माको कभी शान्ति नहीं मिल सकती। सदाचारी मनुष्योंको तो ऐहिक सुखकी इच्छा ही नहीं होती। वे लोग तो त्रैलोक्यके साम्राज्यकी भी परवा नहीं करते। एक संन्यासीने एक राजासे कहा—"तुझे जितना सुख तेरे इन रेशमी वस्त्रोंसे मिलता है; उतना ही-बल्कि उससे भी अधिक सुख मुझे इन वल्कलोंसे मिलता है। अन्तर केवल इतना ही है कि, जहां मुझे रेशम तथा बल्कलसे दोनों समान प्रतीत होते हैं: यहाँ तुझे उनमें ज़मीन आसमानका अन्तर दृष्टि गोचर होता है। वास्तवमें दीन तो वही है, जिसकी तृष्णा दिनों दिन वृद्धिको प्राप्त हो रही है। मनके अन्दर यदि सन्तोष है तो फिर गरीब और अमीरमें क्या भेद ? वै० श० ५३

जो मनुष्य सन्तोषी है वही धनाढ्य है। क्योंकि उसे कभी "मेरे यह नहीं है," "मेरे इस वस्तुका अभाव है" ऐसी लालसाएं नहीं रहतीं। परन्तु जो मनुष्य सदा सांसारिक भोगोंके लिये लालायित रहते हैं, उनकी निरन्तर चिन्ता करते हैं वे ही वास्तवमें दीन हैं। कामनाओंकी तृप्ति कभी नहीं होती। समुद्रमें उठती हुई लहरोंकी भाँति ये एकके पश्चात् एक बढ़ती जाती हैं। ज्यों ज्यों इनकी तृप्ति होती जाती है, त्यों त्यों अग्निमें डाले हुए तृण-गुच्छकी भांति ये भभकती जाती हैं। "इच्छाएं भोग करनेसे कभी तृप्त नहीं होतीं। पर अग्निमें घी डालनेसे जिस प्रकार वह भड़कती है उसी प्रकार ये भी भोगसे बढ़ती हैं।" (मनु संहिता अ० २ श्लो० ६४)

४—पापोंको रोकनेके लिये हृदयमें मृत्युका ध्यान लाओ। पाप कर्ममें प्रवृत्त होनेके पहले यदि तुम्हारा कोई मित्र आकर तुमसे कह दे कि, कुछ ही घंटोंमें तुम्हारी मृत्यु होनेवाली है, तो अवश्य ही तुम्हारे मनसे वह पापवासना निकल जायगी! जिस मनुष्यके हृदयमें हमेशा मृत्युका भय बना रहता है, वह मनुष्य कभी पापमें प्रवृत्त होनेका साहस न करेगा। इसका एक सुन्दर दृष्टान्त सुनिये :—एक राजा भयङ्कर व्याधिसे ग्रस्त हो, अत्यन्त पीड़ा पा रहा था। उसी समय उसके पास एक संन्यासी आया। उसने राजाका किसी वनस्पति रससे उपचार किया। इससे राजाको कुछ आराम मालूम हुआ, और वह उसे रोज पीने लगा। संन्यासी भी उसी रसको प्रति दिन राजासे तीन या

चार गुने अधिक पीता था। कुछ दिनोंमें राजा स्वस्थ हो गया। उसके शरीरमें धीरे धीरे शक्तिका सञ्चार होने लगा। इससे राजाके मनमें दुष्ट विचारोंकी उत्पत्ति होने लगी। एक दिन राजाने सन्यासीसे पूछा—"हे महाराज! आप मेरेसे इतना अधिक रस पीते हैं तोभी आप पर उसका कुछ असर नहीं होता। पर इतना थोड़ा रस पीनेपर भी मेरे हृदयमें दुष्ट विचारोंका आविर्भाव होता है। इसका क्या कारण?" सन्यासीने कहाः—"राजन्! इसका खुलासा तो मैं फिर कभी कहूंगा; पर इस समय मैं तुझे सावधान किये देता हूं कि, आजसे तीसवें दिन तेरी मृत्यु होने वाली है। आजसे तू रोजकी अपेक्षा सात गुना रस पिया कर! राजाने उसी दिनसे सात गुना रस पीना प्रारम्भ किया, उसकी हालत विचित्र प्रकारसे सुधर गई। उसके हृदयके दुष्ट भाव न मालूम किधर विलीन हो गये। कुछ दिनोंके पश्चात् सन्यासीने आकर पूछा—"क्या अव भी तेरे हृदयमें दुष्ट-भाव उदय होते हैं?" राजाने कहाः—"महात्मन्! इस समय मेरा मन मृत्युके भयसे इतना त्रस्त है कि, मृत्यु! मृत्यु!! और मृत्यु!!! के सिवा मुझे दूसरी किसी बातका स्वप्नमें भी ध्यान नहीं आता। सन्यासीने कहाः—"राजन्! तेरी मृत्युमें अभी बहुत दिन शेष हैं; पर मृत्युके किंचित् भय मात्रसे ही जब तेरे दुष्ट विचार विलीन हो गये तव मैं तो हमेशा ही मृत्युको अपने पीछे खड़ी हुई देखता हूं, ऐसी दशामें मेरे हृदयमें दुष्ट विचार किस प्रकार प्रवेश कर सकते हैं। उस दिनके प्रश्नका यही

उत्तर है; अर्थात् मृत्युकी निरन्तर स्मृति रखनेसे दुष्ट विकार नष्ट हो जाते हैं।

५—जिन लोगोंने अपने मन और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है उन लोगोंके चरित्रका मनन करनेसे, उन्हींके आदर्शों-पर आरूढ़ होनेसे अथवा उन लोगोंके साथ मैत्री करनेसे मानव हृदयमें नवजीवनका संचार होता है। उसमें पुनः चेतनाका आविर्भाव होता है, राखसे ढका अंगारा पुनः सतेज हो जाता है।

शैतानके प्रलोभनको तुच्छ गिनकर निकालनेवाले ईसामसीह के उद्गार—"दूर हो शैतान! दूर हो तू मुझसे।" पढ़कर किसका हृदय आवेशपूर्ण नहीं हो जाता।

कामदेवके साथ युद्ध करते हुए भगवान् गौतम बुद्धका दृश्य अपनी ज्ञान चक्षुओंके सम्मुख लाओ। कैसा अप्रतिम एवं आश्चर्यजनक तेज! आहा! शाक्यसिंह सिंहके समान गर-जकर कहते हैं:—

"चाहे पर्वतराज मेरु स्थिरताको छोड़, चलायमान हो जाय, सारा ब्रह्माण्ड शून्य हो जाय, सूर्य्य चन्द्रादि नक्षत्र-गण अपनी मर्यादाको छोड़ पृथ्वीपर आ पड़ें, पर हे मदन! तू मुझे इस बोधिवृक्षके तलेसे तिलमात्र भी नहीं हटा सकता।" इतने पर भी जब कामदेव अपने तमाम अस्त्रशस्त्रोंसे सजग होकर उन-पर चढ़ आता है, तब योगीश्वर बुद्ध अपने पवित्र शब्दोंकी ध्वनि चारों दिशाओंको कंपायमान करते हुए कहते हैं:—"चाहे

तीनों लोक तेरे समान हजारों मदनोंसे भर जायं, चाहे मेरु पर्वतके समान लम्बी तलवार लेकर मुझसे युद्ध करें तोभी विश्वास रख कि, सद्गुणोंके कवचसे सुरक्षित मेरा शरीर अभेद्य है, उसे तू कुछ हानि नहीं पहुँचा सकता।" (ललित विस्तर २१)

सचमुच! अन्तमें कामदेवको पराजित होकर वापस लौटना पड़ा। मानव जातिको कामदेवके साथ निरन्तर सुसज्जित युद्धमें क्या ये शब्द सहायता न करेंगे? आत्मसंयमके लिये प्रयत्न करनेवाले मित्रोंका सहवास करनेसे, उनके साथ सद्भाषण करनेसे, और उनको विचार करनेसे भी बुरे विचार दूर हो जाते हैं। जिन मनुष्योंको बाल्यावस्थामें मातापिताकी ओरसे किसी प्रकारकी धार्मिक शिक्षा न मिली, ऐसोंके लिये तो ऐसा सत्संग और भी अमूल्य है। यह कोई आवश्यकीय बात नहीं कि, सब मित्र एक ही धर्मके पालनेवाले हों—एक ही पथके गामी हों। क्योंकि भिन्न मतावलम्बियोंमें मैत्री हो सकती है।

शुद्धप्रेम पापका रामवाण औषध है। कल्पना करो कि, तुम किसी पाप कर्ममें प्रवृत्त होनेवाले हो। इतनेमें एकाएक यदि तुम्हारा कोई खास मित्र आकर उपस्थित हो जाय, तो फिर तुमसे क्या वह पाप हो सकेगा? सच्ची धार्मिक वृत्तिसे मिलनेवाले मित्रोंके सहवाससे कुविचार नष्ट होते रहते हैं। इसके तीन कारण हैं।

पहले, किसी दो मनुष्योंके बीचमें मैत्री हो जाना जहाँ उनके चरित्रमें कोई विशेषता जान पड़े अर्थात् ऐसी मैत्री उस

मनुष्यके लिये सत्य और प्रेमके साथ उत्पन्न होती है। ऐसे मित्रके सहवाससे, उसके समान बननेकी इच्छा स्वभावतः जागृत होती है। ऐसा करनेसे हमारे दोष और गुण हमारे सम्मुख आकर उपस्थित हो जाते हैं। दोषोंके सम्मुख आनेसे उनको दूर करनेकी उत्कंठा होती है।

दूसरे, सन्मित्र हमेशा उत्तम विषयपर ही वार्ता करते हैं। जिससे एक दूसरेको लाभ पहुँचता है।

तीसरे, पवित्र विचारोंको अपनानेसे आत्मबलकी वृद्धि होती है। जिस मनुष्यको हम सबसे अधिक चाहते हैं और जिसकी मैत्री हमें दुनियाकी प्रत्येक वस्तुसे अधिक प्रिय है यदि वह मनुष्य हमारे पापोंको धिक्कारता है तो क्या हम उस पापको कर उसकी मैत्रीको तोड़नेका साहस कर सकेंगे? ज्यों ज्यों हम अपनी बातोंको मित्रके सम्मुख खोलेंगे, अपने हृदयके पापोंको खोलकर मित्रके सम्मुख रखेंगे त्यों त्यों हमें अधिकाधिक सन्तोष और सहायता मिलती जायगी; जिससे पापका सामना करनेके लिये हमारी आत्मामें बल आवेगा।

सच्चे और उत्तम मित्रका कितना मूल्य है यह एक निम्नांकित उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा। एक चौदह वर्षकी आयुका लड़का अपने कुटुम्बसे बहुत दूर दूसरे मनुष्योंके साथ जिनको कि, शराब खोरीका व्यसन लग रहा था रहता था। उस घरके मालिकका आचरण भी खराब था। एक दिन उनमेंसे कितने ही लोग शराबमें चूर होकर बैठे थे, और उस लड़केके सम्मुख

शराबकी लज्जत (स्वाद) की बड़ाई करके उस लड़केको ललचानेका प्रयत्न कर रहे थे। और साथ ही साथ एक घूंट शराब पीनेके लिये भी उस लड़केसे आग्रह करते जाते थे। कुछ समयतक तो वह लड़का आनाकानी करता रहा, पर अन्तमें वह ललचाकर पीने हीको था कि, एकदम उसकी अन्तर्चक्षुके आगे उसके मित्रकी भव्य मूर्त्तिका प्रकाश पड़ा! इस मित्रके साथ बैठकर यह घंटोंतक शराबकी निन्दा किया करता था। वह मनमें कहने लगा—"अहा! मैं कैसे घोर असमंजसमें फँस गया? मेरी आत्मामें यह परिवर्तन! यदि मैं एक घूँट शराब भी पीलूं तो यह बात मित्रसे किस प्रकार छिपाकर रख सकता हूं, और यदि प्रकाशित करूंगा तो किस मुँहसे? प्यारे मित्र! घवराओ मत, मैं कभी इस दुष्कर्ममें प्रवृत्त नहीं हो सकता।"

इस प्रकार उसके मनमें उसी समय पवित्र भाव उदय हो गये। अन्तमें विजय प्रेमकी ही हुई अर्थात् सन्मित्रके स्मरणसे वह उस घोर दुष्कर्ममें प्रवृत्त होनेसे वच गया।

६—परमेश्वरके गुणोंका चिन्तन करनेसे और उसकी प्रार्थना करनेसे भी मनुष्य पापमें प्रविष्ट होनेसे वच सकता है।

हममें जो दुर्गुण हों उनमेंसे एक एकको दूर करनेके लिये भिन्न भिन्न प्रकारकी प्रार्थना करनी चाहिये। हमें जो दुर्गुण दूर करने हों, उनके विरुद्ध प्रभुसे प्रार्थना और उनके लिये ईश्वरका बार-म्वार चिन्तन करना चाहिये। हम प्रार्थना करते समय हमेशा आत्माका सूक्ष्म निरीक्षण करें, जिससे कोई दुर्गुण न रह जाय।

प्रत्येक पाप और भूलके प्रसङ्गपर ईश्वरके चरणोंकी शरण लेनी चाहिये।

७—परमेश्वर सर्वव्यापी है। इस बातका केवल विचार ही न कर उसका प्रत्येक स्थलपर अनुभव, साक्षात्कार करो। अखिल विश्वमें ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहां ईश्वरकी दृष्टि न जा सके। हमारी दृष्टि भूल कर सकती है, पर ईश्वरकी दृष्टि कोई भूल नहीं कर सकती। हमारे हृदयमें उदय हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार भी उसकी दृष्टिसे परे नहीं हैं। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि, प्रभु पापीको अवश्य दंड देता है। उसके लिये किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह स्वयं अपनी दिव्य दृष्टिसे तीनों लोकोंको देखता है। प्रभु स्वयम् न्यायी है। अतएव उसके दरबारमें पापीको सजा मिले विना छुटकारा नहीं। ऐसा कौन स्थान है जहाँ मनुष्य अपने पापोंको ईश्वरसे छिपा सके। दुर्गम जंगलमें, पर्वतकी कन्दरामें और समुद्रके अगाध जलमें भी ईश्वर विद्यमान है। अंधेरी कोठरीमें मनुष्यकी आंख बचाकर पापकर्म करनेवाले हे पापी! आंखें खोलकर उसे देख, अन्तर्चक्षुओंसे उसे निहार, तेरे कमरेकी छतसे भूमिके तलतक जो सर्वत्र व्याप रहा है। क्या तू यह समझता है कि प्रभुकी दिव्य दृष्टि, उसके अनन्त नेत्र तुझे नहीं देख रहे हैं? पामर! उसके दृष्टि-जालके परे तू कभी नहीं जा सकता। और जो तू समझता है कि, "मैं एकान्तमें हूं" तब तो तू अपने हृदयमें रमते हुए सब कर्मोंके साक्षीरूप सर्वज्ञ परमात्माको जानता ही नहीं।

शोक! पापोंके न्यायकर्ताके समक्ष ही तू पाप कर रहा है! पापी मनुष्य विचार करते हैं कि, मेरे गुप्त कर्मोंको किसीने नहीं देखा। इसमें भी वह ठग जाते हैं। क्योंकि, स्वर्गके देवता और उसकी अन्तरात्मा उसके सब कर्मोंकी गवाह है, वह उसका सम्पूर्ण वृत्तान्त जानती है।

८—मनुष्यको ईश्वरकी ओरसे जो अतुल बल मिला है उसपर विचार करो। "हम उस सर्व-शक्तिमान परमात्माके ही पुत्र हैं और वह नित्य हमारे साथ रहता है।" हमेशा इस प्रकारके विचार करनेसे भी हमारी आत्माको बल मिलता है। "मेरे शरीरपर जब ईश्वररूपी अभेद्य कवच लगा हुआ है, तो फिर पाप मेरा क्या बिगाड़ सकता है?" मैं सर्वशक्तिमान ईश्वरका ही अंश हूं तो फिर पापका मुझे क्या डर है? जिस प्रकार आंधी अपने मार्गके तमाम कांटोंको वेगसे दूर कर देती है उसी प्रकार मैं भी अपने मार्गमें आये हुए पापोंको ठोकरोंसे उड़ा दूंगा! सिंहके बच्चेको सियारका क्या डर है?"

इस प्रकारकी भावनाको हमेशा हृदयमें जागृत रखनेसे पाप सहजमें दूर हो जाते हैं। इसी प्रकारके विचारोंसे प्रेरित हो भक्त रामप्रसाद कहते हैं कि—"विना माताके बच्चेकी तरह तू क्यों असहाय्य अवस्थामें पड़ा हुआ है? मेंडकसे यदि सांप डरने लग जाय, मृगके सामनेसे ही केशरी-सिंह भग जाय, तो बड़ा ही आश्चर्य्य है! सर्वशक्तिमानके पुत्र! क्या तू मौतके भयसे घबराता है?"

महान् अंगरेज तत्त्ववेत्ता "कार्लाइल" को दुनियांकी कितनी मुसीबतोंके साथ लड़ना पड़ा था ? पर वह साहसपूर्वक सदा अविचल रहा और अन्तमें विजयी हुआ। लोभके कारण वह रंच मात्र भी विचलित न हुआ, भूख तो हमेशा उसके मस्तकपर झूमा करती थी। कितनी ही बार तो उसे दो दो दिनतक भूखे रहने पड़े थे। ऐसे अवसरपर यदि वह न्यायसे किंचित् भी हिल जाता तो उसे अपार सम्पत्ति प्राप्त होती। पर धन्य है उस महात्माको जिसने ईश्वरपर श्रद्धा रख, उस अपार सम्पत्तिपर लात मारकर सत्यका पालन किया। उसने अपने आत्मबलपर विश्वास रक्खा। जिन मनुष्योंको उसके हृदयके अन्दरके प्रज्वलित दैवी दीपकका अनुभव हो जाय, उसे सत्यसे डिगानेमें ब्रह्मा भी असमर्थ है।

दुर्गुण मात्रको दूर करनेवाले इन सामान्य उपायोंको जाननेके पश्चात् हमें अब दुर्गुणको दूर करनेवाले मुख्य उपायोंपर विचार करना चाहिये।

पांचवां अध्याय।
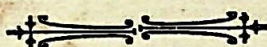
भक्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्न और उनके नाशके उपाय
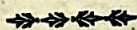
(काम विकार)

(२)

विषय लम्पटतासे होनेवाले भयंकर परिणामोंपर विचार करो। संसारके तमाम डाक्टर एक स्वरसे कहते हैं कि—वीर्य्य रसका एक तत्त्व है। प्रसिद्ध डाक्टर "लुई" कहते हैं कि "तमाम शरीरशास्त्रके वेत्ताओंका यही मत है कि, वीर्य्यके बननेमें रक्तका शुद्धसे शुद्ध और कीमतीसे कीमती भाग काममें आता है।" दुष्ट विकार एवम् कामोपभोगसे वीर्य्यका नाश होता है और स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये वीर्य्यहानिसे बढ़कर कोई दूसरा हानिकारक पदार्थ नहीं। ब्रह्मचर्य्यका पालन कर, वीर्य्य की रक्षा करनेसे शारीरिक और मानसिक तेजका विकास होता है। डा० निकोलस कहते हैं:—"वैद्यकशास्त्रका प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि, शरीरका उत्तम रक्त जीवनके तत्त्वोंको उत्पन्न करता है और ये सब तत्त्व आरोग्य एवम् मनुष्य शरीरमें वापिस जाकर, रक्तमें मिल जाते हैं और उससे उत्तमसे उत्तम

मस्तिष्क, ज्ञान तन्तु और मांस पिंड बनाते हैं, यही मनुष्यका जीवन है। यदि ये प्रत्येक अंगमें प्रसरित हो जाते हैं, तो मनुष्य साहसी, वलवान्, पुरुषार्थी एवम् पराक्रमी बन जाता है। और इसके विपरीत उसका दुरुपयोग करनेसे विषयी, निर्वल, वनकर अन्तमें मृत्युका शिकार वन जाता है। शिवसंहितामें सत्य कहा है कि:—

"ब्रह्मचर्य्य ही जीवन है एवम् वीर्य्यहानि ही मृत्यु है।"

पातंजल ऋषि योगशास्त्रमें इसी विषयका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं:—

"अखंड ब्रह्मचर्य्यके अन्तर्गत ही सच्चा पुरुषार्थ समाया हुआ है।" एक स्थानपर डा० निकोलस भी कहते हैं :—वीर्य्यकी रक्षा करनेसे शारीरिक, मानसिक एवम् आध्यात्मिक जीवनका विकास सुचारु रूपसे होता है। सेन्टपाल और ऐजकन्यूटनके दृष्टान्त देते हुए डाकृर "लुई" कहते हैं:—

"अखंड ब्रह्मचर्य्यसे मनुष्यके शरीर एवम् मनकी पुष्टि होती है।" जब वीर्य्यका व्यय बन्द हो जाता है और वह संचित होता है तब प्रकृति उसका उपयोग उत्तम मस्तिष्क एवम् सशक्त शरीरके वनानेमें करती है।"

महादेवजी ज्ञान संकिलिनी तन्त्रमें ब्रह्मचर्य्यकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि :—

"सामान्य तपको तो बुद्धिमान लोग तंत्र ही नहीं कहते। सर्वोत्कृष्ट तप तो ब्रह्मचर्य्य ही है। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य्यका पालन करते हैं वे मनुष्य नहीं देव हैं।"

ज्यों ज्यों ब्रह्मचर्य्यका उत्तमोत्तम रीतिसे पालन होता है, त्यों त्यों शारीरिक एवम् मानसिक शक्तियोंका अधिकाधिक विकास होता जाता है। और उस (ब्रह्मचर्य्य) का भंग करनेसे मुखकी कान्ति, हृदयका आनन्द, और बुद्धिकी तीव्रता क्षीण होती है। एक बार काम विकारके पेंचमें पड़नेपर शरीरमें जो कमी आ जाती है, हजार पौष्टिक वस्तुओंके सेवन करनेपर भी उसकी पूर्त्ति नहीं हो सकती।

डाकृर फौलरेटका कथन है—

"मानसिक निर्बलता और उसमें भी विशेषकर स्मरण-शक्तिका लोप विषयी मनुष्यके लक्षण हैं। हमारे देशके अनेक युवकोंको बहुत बार स्मरण शक्तिका नाश, बेचैनी, मन्दाग्नि कब्जियत, तथा सिरदर्द आदि रोगोंकी शिकायत रहती है। उसका वास्तविक कारण इन्द्रिय निग्रहका अभाव है। ब्रह्मच-र्य्यका तिरस्कार करनेसे ही इनकी उत्पत्ति होती है।

२—स्त्रीसे व अन्य ललचानेवाले पदार्थोंसे अपने आपको हमेशा अलग रक्खो। जब जब पापका विचार तुम्हारे हृदयमें आवे, बलात्कारसे उसे दबा दो। दुष्ट विचार पापकी जड़ है। इससे वे पापकर्मके समान ही पापमय हैं। दुष्ट विचारोंसे दूर रहने पर सदाचारका मार्ग दिखलाई देगा। कितने मनुष्य ऐसे होते हैं जो पाप वासनाओंसे अलग रहनेपर भी अपने विचारोंको दूषित रखते हैं। ऐसा ही एक मनुष्य डाकृर लुईके पास सलाह लेनेको गया। उन्होंने उसे उत्तर दिया—"अपनी दशापर तुम

विचार करके देखो कि, इस प्रकारके दुष्ट विचारोंको रखनेसे कितनी भारी हानि होती है? जब तुम इसकी हानियोंको सोचोगे तो उस समय जब तुम्हारे—हृदयमें दुष्ट विचार आने लगेंगे तो तुम उनसे सावधान हो जाओगे। दुष्ट विचारके आते ही अपने मनको किसी सत्कार्य्य में प्रवृत्त कर दो। यदि तुम्हारे हृदयमें दुष्ट विचारोंको दूर करनेकी तीव्र आकांक्षा होगी, तो तुम उनसे सावधान रहोगे। यहांतक कि, स्वप्नमें भी दुष्ट विचार आनेपर एकदम जागृत हो जाओगे। बहुतोंको इस बातका अनुभव हुआ है। जागृत अवस्थामें विकारोंको दूर करनेमें विशेष कठिनाई नहीं पड़ती। इतने पर भी यदि तुम्हें ऐसा भासे कि, हम दुष्ट विचारोंपर विजय नहीं पा सकते, तो एकदम शारीरिक व्यायाम करने लग जाओ। एकके उपरान्त एक ऐसे कार्य्य करनेसे तुम सहज ही सफल मनोरथ हो जाओगे। और कुछ ही दिनोंमें तुम्हारे दुष्ट विचार तुम्हारे अधीन हो जायंगे। आलसी और लोभी मनुष्य सहज ही विषय वासनामें लिप्त हो जाते हैं। प्रतिदिन नियमित रूपसे व्यायाम करो, अथवा वायु सेवनार्थ जाओ। और दिनमें दो तीन बार ऐसी मिहनत करो कि, शरीरसे पसीना बहने लगे। भोजन ऐसा करना चाहिये, जो पौष्टिक एवम् हलका हो—उत्तेजक न हो। हवादार मकानमें शयन करो। रात्रिको शीघ्र सोओ, और प्रातःकाल उठो भी जल्दी। दस्त साफ आनेके लिये सोनेके पहले और उठनेके पश्चात् कुछ जल पी लिया करो। इतना

नियम रखनेसे तुम अवश्य सफल होओगे।" इन सूचनाओंके अनुसार चलनेसे वह मनुष्य और उसके कितने ही मित्र दुष्ट विचारोंसे मुक्त हो गये।

विकारसे मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्योंके लिये अनेक सामान्य नियम हैं। श्रीमद् भगवद्गीतामें कहा है कि "काम और क्रोध रजोगुणके कारण उत्पन्न होते हैं। इसलिये राजसी वृत्तिको उत्पन्न करनेवाला भोजन न करो। निम्नलिखित गुणोंसे राजसी भोजनकी पहिचान हो सकती है।

"जो भोजन बहुत कड़वा, खट्टा, बहुत गर्म, तिक्त, सूखा हुआ, अथवा किरकिरा हो, उसे रजोगुणी समझना चाहिये। (भ० गी० अ० १७ श्लो० ७)

डा० लूईके मतानुसार अण्डे, मछली, मांस, प्याज़, मिरची, राई, अति मीठा पदार्थ या तेज मसालेदार पदार्थ ब्रह्मचर्य्यके घातक हैं।" आत्म संयमके लिये प्रयत्न करनेवाले मनुष्यों वा हिन्दू विधवाओंके लिये जो भोजन नियत किया गया है; उनमेंसे नीचे लिखे हुए हितकर हैं। "गायका दूध, घृत, चोखा, जव, मूंग, तिल, केला वगैरह, दाल वगैरहमें चना व मूंग उत्तम है, उर्द वगैरह उत्तेजक होनेसे वर्जनीय हैं।

डा० लूईके मतानुसार अशुद्ध अंतड़ियोंको धारण करनेवाले-को ब्रह्मचर्य्य हानि करता है। अतएव वे प्रतिदिन सोते समय और उठते समय ठण्डा पानी पीनेकी सलाह देते हैं। यह पानी बिलकुल निर्मल और शुद्ध होना चाहिये। इस क्रियासे दस्त साफ आता है।

सोनेके लिये कड़ा स्थान या बिछौनेका उपयोग करना चाहिये। रूई भरे कोमल गद्दोंपर लेटनेके लिये उनकी सलाह नहीं। और कपड़े पहिननेमें भी टीमटामकी आवश्यकता नहीं।

रातको प्रकाश रखना भी ब्रह्मचर्य्य पालनेवालेके लिये हानिकारक है। सोनेके पहिलेका समय उत्तमोत्तम पुस्तकोंके मननमें व्यतीत करना चाहिये।

बीच बीचमें एकादशी और चतुर्दशीको उपवास करनेसे भी शरीर और मनको लाभ पहुँचता है।

प्रतिदिन शारीरिक व्यायाम अवश्य करना चाहिये, इन्द्रिय निग्रहके लिये शारीरिक व्यायाम बहुत सहायता देता है। प्रति दिन दो तीन वार इतना व्यायाम करना चाहिये जिससे पसीना चूने लग जाय। और जिस प्रकार योगी लोग करते हैं उस तरहके आसन, मुद्रा व प्राणायाम करनेसे मन स्थूल पदार्थोंसे हटकर सूक्ष्म पदार्थोंकी ओर आकर्षित होता है। इसीसे प्राणायाम विचलित इन्द्रियोंको वशमें लानेका एक अत्युत्तम साधन है। जब कभी हमारे मनमें खराब विचार उत्पन्न होने लगें तो उसी समय पद्मासन या सिद्धासन लगाकर प्राणायाम करना चाहिये जिससे खराब विचार एकदम भाग जायं। जिन को यह उपाय सुगम न हो, उन्हें खराब विचारोंके आते ही एकदम शारीरिक व्यायाम प्रारम्भ कर देना चाहिये। इससे नब्बे सैकड़ा फ़ायदा होता देखा गया है। ऊंचे स्वरसे ईश्वरका भजन गान करनेसे भी लाभ होता है। जहाँतक बने उतने समय लंगोट रखना भी लाभप्रद है।

"पीड़ा अथवा कोई ख़ास कारणके सिवा गुप्त अंगोंका स्पर्श न करना चाहिये।" "ऐसी आज्ञा मनुसंहितामें है। (अ० ४ श्लो० १४४)

इन सब उपायोंको सफल करनेके लिये प्रथम एवम् मुख्य शर्त यही है कि, "पवित्र जीवन और आत्मसंयमके लिये मनुष्यके अन्तःकरणमें बहुत उत्कंठा होनी चाहिये।" यदि मनुष्यके मनमें उत्कंठा न हुई, तो उपरोक्त उपचारका सफल होना दुःसाध्य है।

३—मनको हमेशा कार्य्यमें संलग्न रखना चाहिये। यह भी एक मुख्य उपाय है। स्वामी दयानन्दसे किसीने पूछा :—

"महाराज! आपको भी कभी कामविकार सताता है? उन्होंने उत्तर दिया—"मैं हमेशा किसी न किसी कार्य्यमें निमग्न रहता हूं फिर मुझे काम विकार कैसे सता सकता है?"

४—जीवनमें घटित अच्छी अच्छी घटनाओंका मनुष्यको स्मरण रखना चाहिये। यथा यदि अपना मन कभी ईश्वरके दिव्य प्रेममें पुलकित हुआ हो या यदि कभी संसारका मिथ्याभाव हमारे मनमें धँस गया हो, या कभी दया एवम् प्रेमका आदर्श भाव उठा हो तो एक नोट बुकमें नोटकर लेना चाहिये। और जिस समय हमारे मनमें दुष्ट भावनाएं उदित हों, उस समय उन घटनाओंको सम्मुख रख पढ़ना चाहिये, इससे वे घटनाएं हमारे मनमें नई जागृति पैदा कर देंगी जिससे दुष्ट विचार नष्ट हो जायँगे। इस प्रकारके उपयोगोंसे बहुत लोगोंको लाभ हुआ है।

५—हृदयमें "पवित्रता," "शुद्धता," "ब्रह्मचर्य्य" इन शब्दोंका उच्चारण करो और इन्हीं शब्दोंको जोरसे बोलो। डायरीमें उपरोक्त शब्दोंको लिख रखना चाहिये और जब जब अपवित्र विचार उत्पन्न हों, तब तब इन शब्दोंको देखो। पवित्र जीवन व्यतीत करनेके शुभ विचार, और उससे होनेवाली आत्मोन्नति, तथा शारीरिक सौन्दर्यकी वृद्धिपर एक साथ विचार करो। काशी और हरद्वारके मिलनेवाले कितने ही साधुओंको देखनेसे विश्वास होगा कि, ब्रह्मचर्य्य और पवित्रताके प्रतापसे, वृद्धावस्थामें भी शारीरिक सौन्दर्य्य किस प्रकार स्थित रह सकता है।

६—यह शरीर प्रभुका पवित्र मन्दिर है। उससे मुझे उस मन्दिरको पवित्र एवम् शुद्ध रखना चाहिये। ऐसे विचार हमेशा हृदयके अन्दर रखनेसे अपवित्र विचार दूर रहते हैं। आर्य्य-धर्म्मके "षड्चक्र" * आदि विधानोंका आदर इसीपर अव-लम्बित है। सेन्टपाल पापियोंको सम्बोधन कर कहता है— "क्या तुम नहीं जानते कि, तुम ईश्वरके मन्दिर हो। उसका अंश तुममें विराजमान है। यदि कोई मनुष्य प्रभुके मन्दिरको अपवित्र करेगा, तो वे उसका अवश्य नाश करेंगे, क्योंकि प्रभुका मन्दिर पवित्र है, और वह तुम्हारी देह है।"

७—भक्ति मार्गमें अग्रसर होनेके लिये एकांत वास बहुत सहायता करता है, परन्तु दुष्ट विकारोंमें लिप्त मनुष्योंके लिए

*—"षड्चक्र" यह जीवन क्रियापर अधिकार रखनेका अनेक नाड़ियोंसे गुंथा हुआ चक्र है। और यह कमलपत्रपर विराजमान शिव शक्तिके समान है।

तो वह अन्तराय रूप है। इससे ऐसे मनुष्योंको एकान्त वास करना योग्य नहीं।

८—विज्ञान अथवा तत्त्वज्ञानके गूढ़ अभ्यासमें मनको लिप्त रखना भी कामको जीतनेका एक सरल उपाय है। एक महान् वनस्पतिशास्त्रके ज्ञाताने मुझसे कहा था :—

"मुझे अभीतक स्त्री विषयक विचार करनेका अवकाश ही न मिला।" पंचदशीमें कहा है—

"जहाँतक निद्रा और अथवा मृत्युके वशमें न हो जाओ, वहाँतक वेदान्तके अभ्यास हीमें समय व्यतीत करो और अपने हृदयमें काम विकारके प्रवेश होनेका विचारतक न लाओ।"

वेदान्तका विषय बड़ा विशाल है। और उसमें "मैं कौन हूं" "यह नाम रूपात्मक जगत कौन है" तथा उसके क्या क्या गुण हैं" ऐसे गंभीर विषयोंमें जिसका मन ग्रथित है, उस मनमें काम विकार किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है।

बुद्धिमान लोग जड़ शरीर एवम् चैतन्यमय आत्माका भेद प्रत्यक्ष करनेका यत्न करते हैं। शारीरिक आवश्यकताएं अथवा निर्बलता मनको अपने उच्च एवम् इच्छित विषयसे हमेशा अलग रखती है,—ध्यानसे भी अलग रखती है। इसलिये किसी भी गंभीर विषयपर विचार करनेके पूर्व शरीरको एकदम भूल जाना चाहिये। जिस वनस्पति शास्त्रके ज्ञाताकी बात ऊपर कही गई है, उसके पास बंगालके एक लेफ्टेनेन्ट गवर्नर पढ़ने जाया करते थे। बहुधा ऐसा होता था कि, जब वह गवर्नर उसके

यहाँ जाता था, तब वह अपने ध्यानमें ऐसा तल्लीन रहता था कि जबतक वह उसके अंगको पकड़कर न हिलाता, तबतक उसे ज्ञात न होता था कि, "गवर्नर आए हैं।" ऐसे मनुष्यके हृदयमें काम विकारका कैसे प्रवेश हो सकता है?

६—"अपनी माताका विचार करो।" पुत्रका अपनी माताके समान दूसरी किसी भी वस्तुपर प्रेम नहीं होता! "माता" इस शब्दके उच्चारण मात्रसे हृदयमें पवित्र विचारोंका उद्भव होता है। इस शब्दका ध्यान आते ही हृदयके अपवित्र विचार दूर हो जाते हैं। इसी कारण प्रभु नामके आगे "माता" यह शब्द सर्वोत्तम असर करता है। ईश्वर हमारी माता है, ऐसे विचार ही हमारे हृदयको पुलकित कर देते हैं, हमें लालचसे बचाते हैं। सृष्टिमें सर्वत्र ईश्वरके मातृभावका अनुभव करनेसे आसपासके तमाम पदार्थोंमें उसकी पवित्रताका प्रतिबिम्ब पड़ता है। किसी स्त्रीके देखते ही, यदि हम उसके प्रति माताकी कल्पना कर लें, तो क्या फिर हमारे अन्तःकरणमें उसके प्रति अपवित्र विचार आ सकते हैं? कभी नहीं। श्री रामकृष्ण परमहंसका उनकी पत्नीसे कोई शारीरिक सम्बन्ध न था। एक समय उनकी पत्नीने एक रात उनके साथ रहनेकी इच्छा प्रगट की। स्वामीजीने उसे स्वीकार कर ली। जब वह उनके समीप आने लगी, तो उसे देख स्वामीजीके पैर कांपने लगे। यह देखकर उसी समय स्वामीजीने उसमें (स्त्रीमें) देवी रूपकी भावना कर ली और बोले—

"माता! पत्नीका वेष करके तू मेरे पास आई है! आ!

आ !! मुझे तुझसे क्यों डरना चाहिये !" सारी रात्रि व्यतीत हो गई। पर परमहँसके मनमें रंचमात्र भी अपवित्र भावना प्रविष्ट न हुई।

१०—"मनुष्य शरीरके अन्दर कितने घिनौने पदार्थ भरे हुए हैं" इत्यादि शरीरके प्रति ग्लानिप्रद भावनायें रखनेसे भी बहुतोंका हित हुआ है। शरीरके घिनौनेपनके कारण घृणा उत्पन्न हो जानेके पश्चात् विलासवृत्तिका आना दुःसाध्य है।

"गन्दगी और कीड़ोंसे भरा हुआ, दुर्गन्धयुक्त, मलमूत्रका स्थान ही यह शरीर है, उसके उपयोगमें आनन्द मानना मूर्खोंका कार्य है। संयमी लोग तो हमेशा इससे परे रहते हैं।" (योगोपनिषद्)।

मनुष्य शरीरके नवों द्वारोंसे महाघृणाकारी मल बाहर निकलता है। यह देह कैसी मलिन, क्षणभंगुर है, मृत्युके पश्चात् कैसा जड़ और लकड़ीके समान हो जाता है। योगवासिष्ठमें श्रीरामचन्द्र कहते हैं:—"मोहक दिखाई देनेवाले स्त्री शरीरके प्रत्येक भाग—जैसे त्वचा, मांस, रक्तादिको सूक्ष्म दृष्टिसे देखो। इसमें कौनसी वस्तु सुन्दर है? कौनसी मोहित करनेवाली है?"

और भी एक दूसरे स्थानपर कहते हैं—"हे महाराज! स्त्रीकी प्राणघातक सुन्दरता थोड़े ही समयमें रक्त, मांस, और हड्डियोंके रूपमें परिवर्तित हो जाती है।"

शुकदेवजी योगोपनिषद्में कहते हैं:—"दुर्गंधसे परिपूर्ण, सैकड़ों कृमि, और मलमूत्रसे भरा हुआ, नाना प्रकारके विका-

रोंसे युक्त, मोहके उत्पादक, विषयोंकी ओर आकर्षित करने-वाले, विषय भोगके स्थान इस चमड़ेकी मढ़ी हुई देहमें मोहित करने योग्य क्या सामान है? देखते नहीं कि शरीर तो एक खाल (छोटी नदी) है जिसमें मोह, यौवन, और धन बह जाता है।

देख! देख!! हे वाचक! विचारपूर्वक श्रवण कर! श्मशान भूमिके एक कोनेमें पड़ी हुई उस स्त्रीकी खोपड़ीमेंसे, जो कि एक समय अति लावण्यवती थी—बहता हुआ वायु-मानों कामान्ध पुरुषोंकी हँसी करता हुआ क्या कह रहा है? "कहाँ है वह कमलके समान सुन्दर मुख? कहाँ हैं वे मधुके समान मधुर ओष्ठ? कहाँ है वह कोकिलाके समान मधुर कण्ठ? कहाँ गईं उसकी कामदेवके समान सुन्दर भ्रुकुटियां?" मनुष्य देहका इसी प्रकार अन्त हो जाता है। ऐसा चिन्तन करनेसे भी कामवासना दूर होगी।

महात्मा बुद्धके गृहत्यागके कुछ समय पूर्व, उसके अन्तःपुरमें उसकी वृत्तिको सांसारिक भोगोंकी ओर झुकानेके लिये कुछ सुन्दर स्त्रियां रक्खी गई थीं। एक समय रात्रिमें, जब कि, वे सब निद्रादेवीकी गोदमें पड़ी थीं, बुद्धने उठकर देखा तो उन्हें विदित हुआ कि, वे सब अस्त व्यस्त पड़ी हुई हैं, किसीकी गर्दन मुड़ी हुई है तो किसीके मुखसे लार टपक रही है। कोई निद्रामें दांत पीस रही है, तो कोई स्वप्नवश हो खिलखिलाकर हँस रही है। यह दृश्य देख गौतम बुद्ध अपनी आत्माको सम्बोधन कर कहने लगे :—'ओह! यह सब क्या है? मौतका

फंदा ! यह जीवित नरक स्थानके सिवा और क्या है ? क्या मैं ऐसे क्षुद्र पदार्थोंमें आनन्द मानूँ ? इन क्षणिक सुखोंमें अपनी आत्माको लिप्त कर दूँ ? इस विचारके साथ ही साथ उनका हृदय प्रभुके अचल सौन्दर्य्यकी ओर मुड़ा और मोह-पाश तोड़ उन्होंने गृहत्याग किया ।

११—कामको दूर करनेका रामवाण उपाय विशुद्ध प्रेम है। जब मन दुष्ट विकारोंकी ओर आकर्षित हो रहा हो, तब उसके सम्मुख ऐसा प्रबल आकर्षक पदार्थ रखना चाहिये, जिससे वह उसीकी ओर आकर्षित होने लग जाय। जब मनुष्यके हृदयमें प्रभुके प्रति पवित्र प्रेम उत्पन्न हो जायगा, तब वह आपही आप इस क्षणिक प्रेमकी ओर जानेसे रुक जायगा। जब-तक हृदयको खींचकर अपनी ओर करनेवाली वस्तुएं उसकी ओर न रखी जायँगी तबतक वह अधम और क्षुद्र वस्तुमें लिप्त रहेगा। प्रभुप्रेमका प्याला पिलाये पश्चात् उसके सब दुर्गुण, सद्गुण हो जायँगे ।

जिसने प्रभु-प्रेमका आस्वादन किया है, जिसने सर्व सुखके भाण्डार ईश्वरको पहचान लिया है उस मनुष्यकी वृत्तियां शारीरिक सुखमें किस प्रकार लिप्त हो सकती हैं ?

शारीरिक सुखोंके भोक्ताओंको अन्तमें जहाँ निर्बलता और पश्चात्ताप होता है वहाँ प्रभुप्रेमका आस्वादन करनेवालोंको अतुल आनन्द प्राप्त होता है। काम विकार जहाँ मनुष्यको पशु कर देता है, शुद्ध प्रेम वहाँ पशुको देवता बना देता है।

"प्रभुके नामका कीर्तन करना, उसके गुणोंका गान करना, वास्तवमें आह्लादकारक है और हृदयको अपूर्व आनन्द देनेका अखण्ड साधन है। इसके प्रभावसे दुःखका भारी समुद्र भी क्षणभरमें सूख जाता है।

जिसने एक बार भी प्रभु-प्रेमका आस्वादन कर लिया है, उसका मन विषय वासनाकी ओर कैसे मुड़ सकता है? विषय वासनाओंमें तो उसको आकर्षित करनेकी शक्ति ही नहीं।

इस बातका समर्थन जेसन और यूलीससकी एक ग्रीक कहानीसे हो जायगा। भूमध्य सागरके एक द्वीपमें तीन देवियां रहती थीं। अपने संगीत माधुरीके द्वारा वे यात्रियोंको खींच लाती थीं और खा जांती थीं। ग्रीसके योद्धा यूलीससको जहाज़में बैठकर इसी द्वीपके समीपवर्ती मार्गसे जाना था। अपना बचाव करनेके लिये उसने अपने शरीरको दृढ़ताके साथ उस जहाजसे बाँध दिया और खलासियोंके कान खूब दृढ़तासे बन्द कर दिये जिससे कि उनका गायन उनके कानोंतक न पहुँचे। अन्तमें कसौटीपर कसे जानेका समय आया। और उन देवियोंका गायन उसके कानोंपर पड़ा; जिससे उसको सुननेकी बड़ी उत्कंठा हुई। इतना ही नहीं, उसने द्वीपपर जानेके लिये बहुत हाथ पैर मारे, पर उसके आसपास बंधी हुई सख्त डोरियोंके कारण वह जा नहीं सका और बड़ी कठिनाईसे बचने पाया।

अब जेसनका हाल सुनिये। जब वह उसी समुद्र मार्गसे

जाने लगा, तब उसने इस भयसे बचनेके लिये दूसरा ही उपाय ढूंढ़ निकाला। उस समय "ओरफ़ियस" नामक एक बड़ा प्रसिद्ध गवैया था। उसके गायनमें ऐसी अद्भुत शक्ति थी जिसके सुनते ही पत्थर भी पानी हो जाता था। जेसनने उसको अपने साथ जहाज़पर बैठा लिया। जब उन देवियोंका द्वीप समीप आया तब उसने उक्त गवैयेसे गायन प्रारम्भ करवा दिया। उसके मोहक गायनसे जहाजके खलासी ऐसे मुग्ध हो गये कि, उन देवियोंका गायन उनके कानोंपर पड़ते हुए भी, वह बिलकुल फ़ीका और नीरस ज्ञात होने लगा और कुछ भी असर न डाल सका। जहाज़ सकुशल अपने नियत स्थानपर पहुँच गया। कहनेका तात्पर्य्य यह है कि, अपने बलपर विश्वास रखनेसे यूलीससके समान गति होती है। और प्रभु प्रेमके अनन्य और नित्य सेवन करनेसे विषय वासनाएं वैसी ही फ़ीकी पड़ जाती हैं जैसे ओरफ़ियसके गायनके आगे देवियोंका संगीत पड़ गया था।

"जो मनुष्य हठ करके केवल अपने ही बलका स्मरण रखता है वह अपनी मनोवृत्तियोंको वशमें नहीं कर सकता। और जो मनुष्य प्रभु प्रेमको ही इसके योग्य मानते हैं, वे ही सचमुच संयम रखनेमें सुलभतापूर्वक विजयी होते हैं।" (अष्टावक्र संहिता)

प्रभु-प्रेममें, और प्रभुभक्तोंकी संगतिमें जो मनुष्य आनन्द लेना सीखता है, उसे काम विकार नहीं सता सकता।

ईरानका महाकवि "हाफ़िज़" इस दिव्य प्रेममें इतना मस्त

हो गया था कि, फिर किसीकी इतनी शक्ति न थी जो उसे काम विकारोंमें विचलित कर सके। प्रभु प्रेममें मस्त मनुष्यको विषय भोगमें कैसे आनन्द मिल सकता है ? साक्षात् अमृतके पान करनेवाले मनुष्यको भी कहीं पानी रिझा सकता है ?

कितने ही मनुष्य ऐसे होते हैं कि, वे प्रार्थना करते समय घुटने टेककर ऐसे भयभीत हो बैठते हैं, मानों उनपर फांसीकी सजा बोल दी गई हो। यह कितना खराब है! आनन्द स्वरूप-का स्मरण करते हुए, ऐसा व्यवहार करना भारी मूर्खताके सिवाय और क्या है! प्रभु स्वयं ही अनन्त आनन्दमय है, अखिल सुखका झरना है। इस संसारमें उसके समान सुख और आनन्द दूसरी कौनसी वस्तुमें मिल सकता है ? एक ही बार उस दिव्य आनन्दका अनुभव हो जानेसे एक बङ्गालीके कहे हुए शब्द तुम्हारे मुखसे निकल पड़ेंगे। 'प्रभो ! ऐहिक भोगोंके भोगसे मेरे हृदयको आनन्द नहीं मिल सकता ; क्योंकि मैं तो तेरे पदपंकजसे झरते हुए अमृतका पान करता हूं। मानकी और वैभवकी मुझे बिलकुल परवा नहीं। क्या मधुमक्खी मधुके होते हुए भी पानीका पान कर सकती है ?

किसी भी शराबी और विषय-लम्पटको यदि इस दिव्य आनन्दका एक क्षण भी अनुभव हो जाय, तो अवश्य ही वह अपनी कुटेवोंका त्याग कर दे। श्रीरामकृष्ण परमहँसका इस सिद्धान्तपर अटल विश्वास था।' और इससे जो कोई शराबी और व्यसनी उनके पास जाता और कोई दूसरे लोग उसके विषयमें

शिकायत करते तो वे महात्मा हमेशा यही उत्तर देते थे—"इसे ऐसा करने दो। कहाँतक यह ऐसा करेगा।" उनको दृढ़ विश्वास था कि, जिस उपदेशरूपी मदिराका पान वे स्वयं उसे कराते थे उसके दिव्य प्रभावके सम्मुख उसकी कुटेव क्षणभर भी नहीं ठहर सकती थी।

माताकी मृत्युके पश्चात् नारद ऋषि प्रभुप्राप्तिके लिये संसार त्याग वनवास गये। और एक बड़े वट वृक्षके नीचे ध्यानस्थ हो बैठ गये। बहुत समयतक इसी अवस्थामें बैठे रहनेके पश्चात् उन्हें ईश्वर (औचित्य) का साक्षात्कार हुआ। पर वह कुछ ही समयतक रहा। कुछ समय पश्चात् नारदजीको ईश्वरने आकाशवाणी द्वारा कहा:—"इस जन्ममें तू मुझे प्राप्त नहीं कर सकता। जो योगी केवल शिक्षा देनेवाले हैं, और जिन्होंने कभी मनोनिग्रह नहीं किया है, उन्हें मेरा साक्षात्कार नहीं हो सकता। "तो भी मैंने तुझे दर्शन दिया है, वह केवल इसीलिये कि, जिससे तेरे हृदयमें मेरे प्रति आतुरता उत्पन्न हो। मेरे लिये जिसे सच्ची आतुरता होती है, उसीकी सब मनोकामना पूर्ण होती है।"

प्रभु प्रेमसे सम्बन्ध हुए पश्चात् इस संसारमें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहती है। सारे हृदयके अधिष्ठाता ईश्वरकी उज्ज्वल किरणोंसे पवित्र हृदय, कैसा सुन्दर और मनोहर होता है।

सच्चा भक्त अपने आपको भूलकर, ईश्वरके प्रेममें लीन हो जाता है। अपनी सब मनोकामनाओंको सुन्दरताके आदिरूप

ईश्वरकी ओर मोड़ो। उनको काम वासनाओंकी ओर अग्रसर मत होने दो।

उपरोक्त उपाय कामवासनाको जीतनेके मुख्य उपाय हैं। पर इन सब उपायोंका अवलम्बन करते समय, पूर्व कथित सामान्य उपायोंको न भूल जाना चाहिये। क्योंकि, इन उपायोंके करनेपर भी उनकी आवश्यकता बनी ही रहती है।

काम विकारसे उत्पन्न होनेवाले दस विकारोंको स्मरण रख उनके फंदेसे बचनेका उपाय करो। उनसे हमेशा सावधान रहो। एक ही कुटेवके फन्देमें फँसे हुए दो मित्रोंके बीचमें यदि स्पर्धा हो जाय, तो उससे भी लाभ हो सकता है। उदाहरणार्थ कल्पना कीजिए कि, दो मित्र हैं, उन दोनोंमें ही वेश्या सेवनका व्यसन है। अब यदि ये दोनों ही आपसमें शर्त करें कि, "देखें, हम दोनोंमें कौन अधिक समयतक इन्द्रियनिग्रह कर सकता है" तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि, अकेलेके प्रयासकी अपेक्षा इससे अधिक लाभ होनेकी सम्भावना है।

दूसरोंको सुधारनेका प्रयत्न करनेसे भी हमें बहुत लाभ हो सकता है। क्योंकि, ऐसा करनेसे हमारे दुर्गुणोंको हम पहचान सकेंगे। स्वाभाविक रीतिसे ही हमारा अन्तःकरण हमें प्रेरणा करके कहेगा कि, दूसरोंका सुधार करनेके पहिले अपने आपका सुधार करो। दुर्गुणोंके दुष्परिणामोंका वर्णन करते करते हमें उससे आप ही आप घृणा उत्पन्न होगी। इस प्रकार लाभ तो होता है, पर इसका प्रयोग करनेमें स्वयं फंस जानेका

भय रहता है। इससे खूब सावधान रहना चाहिये। इस प्रकार दूसरेका सुधार करते करते एक युवक स्वयं ही फँस गया। यह युवक पतित स्त्रियोंको सुधारनेका प्रयत्न करता था। ऐसा करते करते वह स्वयं ही उनमें फँसकर पतित हो गया। इसलिये दूसरेको सुधारनेके भारका उत्तरदायित्व लेनेके पहले प्रयत्न करने वालोंको अपना मनोबल खूब दृढ़ बना लेना चाहिये। पर अपनेसे कम अथवा अपने समान दोषवाले मनुष्योंसे मिलकर एक दूसरेको पवित्र और दोषमुक्त करनेमें बिलकुल लाभ नहीं।

कितने ही लोगोंका ऐसा विश्वास है कि, "गृहस्थाश्रममें ब्रह्मचर्य्यका पालन करना असम्भव और अयोग्य है।" मानों गृहस्थाश्रम केवल विषय भोगके लिये ही बना है। जिस देशमें गृहस्थ धर्मके प्रवर्त्तक तमाम इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाले ऋषि मुनि हुए हैं, उसी देशमें विषय वासनाका ऐसा अंधाधुंध देख किसे खेद नहीं होगा? इससे अधिक दुःखप्रद बात और क्या हो सकती है? पवित्र ऋषि और मुनि ज़ोर देकर कह गये हैं कि, "पहले इन्द्रियोंका निग्रह करो, फिर विवाह।" गृहस्थाश्रमके पूर्व ब्रह्मचर्य्याश्रमका पालन करना चाहिये। बाल्यावस्थाके पूर्ण होते ही ब्रह्मचर्य्य अवस्थाका आरम्भ होता है। और जब ब्रह्मचर्य्याश्रमके पालनसे चरित्र निर्मल हो जाता है, तब गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी योग्यता होती है। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धान्तर्गत १७ वें अध्यायमें कहा है :—

"इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रतका धारी ब्रह्मचारी अपने व्रतका उत्तम रीतिसे पालन कर, अपने सब विकारोंको भस्मीभूत कर, अग्निके समान देदीप्यमान बन जाय, उसके पश्चात् गुरुके पास परीक्षा देकर, दक्षिणासे उन्हें सन्तुष्ट कर, जिस आश्रममें प्रवेश करनेकी इच्छा हो, करे या इच्छा हो तो विवाह करे। बन्धन रहित वानप्रस्थ व संन्यासी होना चाहे तो उस धर्मको स्वीकार करे। गृहस्थधर्म ही स्वीकार करना हो तो अपने ही समान रूप और गुणवती कन्यासे विवाह करे।"

गृहस्थ जीवन तभी सच्चा आनन्दमय हो सकता है, जब हम काम और विषय वासनाको अपने वशमें कर लें। पशुवृत्तिका पोषण करना यह कोई गृहस्थ धर्म्म नहीं। गृहस्थ धर्म क्या है? इसका विचार हमें सती सावित्रीके पिताके व्यवहारसे स्पष्ट हो जायगा।

"प्रजोत्पत्तिके लिये उसने तीव्र नियमोंका तथा ब्रह्मचर्यका पालन किया और खाने पीनेसे नियमित हो इन्द्रिय-निग्रह आरम्भ किया।"

इसका नाम है वास्तविक "गृहस्थाश्रम" प्रजोत्पत्ति करने वालेके मस्तकपर उसका कितना भारी उत्तरदायित्व है, उसको देखो। उसपर विचार करो। उसके प्रति उदासीन होनेसे कैसा भयङ्कर परिणाम होता है, उसका अनुमान करो। जो मनुष्य अपनी वृत्तियोंको नहीं रोक सकता, जो इन्द्रियोंको वश करनेमें असमर्थ है, जो हमेशा विषय वासनाओंमें लिप्त रहता है, भले बुरेकी जिसे पहिचान नहीं, उसमें और पशुमें क्या अन्तर?

छठां अध्याय

भक्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्न और उनके नाशके उपाय

(क्रोध)

(३)

क्रोधसे होनेवाली हानियां, और उसके संयमसे होनेवाले लाभोंका चिन्तन कर उससे सदा अलग रहनेका निश्चय करो। इस विकारके वशमें हो जानेसे कितने ही लोग नष्ट हो गये हैं। महाभारतमें युधिष्ठिरजी द्रौपदीको कहते हैं—"इस जगत्में क्रोध विनाशका मूल है। क्रोधके वशमें होकर मनुष्य भले और सम्माननीय लोगोंका भी तिरस्कार करने लग जाता है। समस्त मानुषिक आचरणोंका मान वह भूल जाता है। इस संसारमें कौनसा ऐसा दुष्ट कार्य है, जिसे क्रोधान्ध मनुष्य नहीं कर सकता ? जीवित रहने योग्य निर्दोष मनुष्योंका विनाश करता है, और मरणासन्न मनुष्योंका वह आदर करने लग जाता है। क्रोधके वश मनुष्य हिंसा भी करता है। क्रोधान्ध मनुष्य कार्य्य-का वास्तविक स्वरूप नहीं पहचान सकता। उसी प्रकार वह अपने कर्त्तव्य और मर्यादाका ज्ञान भी भूल जाता है।" (व० प० २९ श्लो० ३७६)।

क्रोध मानव जातिका कट्टर शत्रु है। क्योंकि, वह मनुष्यके गुणोंका नाश कर डालता है। जिन जिन अत्याचारी और अमानुषी अत्याचारोंके कारण यह दुनिया नरक बन गई है उनका मूल कारण क्रोध है। क्रोधके कारण मनुष्यका सुन्दरसे सुन्दर मुख-मण्डल भयानक हो जाता है। आंखें दहकर लाल-गर्म लोहेके समान हो जाती हैं। होंठ फड़फड़ाने लगते हैं। श्वास जोरसे चलने लगता है। सार यह कि सारा मुखमण्डल अपनी भव्यताको छोड़ कर, अमानुषी रूप धारण कर लेता है। क्रोधी मनुष्यका मुख किसीको भी भला प्रतीत नहीं होता। चाहे वह अपना स्वजन ही क्यों न हो। मनुष्यकी कान्ति क्रोधसे इतनी जल्दी नष्ट हो जाती है, जितनी दूसरे किसी भी कारणसे नहीं होती। देशी और विदेशी वैद्योंका कथन है कि हिस्टीरिया आदि बीमारियोंका प्रधान कारण क्रोध ही है।

कई बार क्रोधसे भयङ्कर घटनाएं भी उत्पन्न हो जाती हैं। एक समय एक ग्राममें दो स्त्रियां परस्पर लड़ रही थीं। लड़ाई भयानक रूप धारण करती गई। यहाँतक कि, उनमेंसे एक स्त्री लकड़ी लेकर दूसरीको मारनेके लिये दौड़ी। दूसरी स्त्री डरके मारे भागकर अपने घरमें घुस गई, और फुर्तीके साथ द्वार बन्द कर दिया। इतनेमें उसके पीछे दौड़कर आनेवाली स्त्रीने द्वार खटखटाना आरम्भ किया, पर एकाएक धक्का लगानेके कारण वह गिर पड़ी और मर गई। क्रोधका कितना दुष्परिणाम हममेंसे बहुतसे लोगोंको जिन्हें क्रोध चढ़ जाता है विदित होगा

कि, क्रोधके आवेशमें आये पश्चात् भूख भाग जाती है। इसका कारण यह है कि, उस स्थितिमें रक्त बहुत तेजीसे प्रवाहित होने लगता है। जिससे ज्ञानतन्तु निर्बल पड़कर, जठराग्नि मन्द हो जाती है।

अब, क्रोधान्ध मनुष्यकी क्या स्थिति होती है, इसपर विचार करना चाहिए।

"अपशब्दोंसे और कठोर वचनोंसे छिदे हुए हृदयका वास्तविक स्थितिमें आना असम्भव है। इसकी अपेक्षा तो बाणों अथवा कुल्हाड़ियोंसे छिदा हुआ वृक्ष कदाचित् शीघ्र ही अपनी वास्तविक स्थितिको प्राप्त कर सकता है। पर कठोर वाग्बाणोंसे छिदा हुआ हृदय कभी अपनी मूल स्थितिपर नहीं आ सकता।" (महाभारत उ० प० अ० ३६ श्लो० ७८)।

मजबूत दिलके मनुष्य कभी क्रोधके वशीभूत नहीं होते। क्योंकि क्रोध मानसिक निर्बलताका चिह्न है। दूरदर्शी पुरुषको जिसे तेजस्वी और आत्मदर्शी कहते हैं कभी क्रोध नहीं होता। क्रोधके वशीभूत होनेके दुष्परिणाम और उसपर विजय प्राप्त करनेसे जो अगणित लाभ होते हैं उनका चिन्तन करो और प्रतिज्ञा करो कि, "मैं कभी क्रोध नहीं करूंगा।" और हमेशा उस प्रतिज्ञाका स्मरण किया करो। मेरा दृढ़ विश्वास है कि, ऐसा करनेसे, समयपर उसका प्रयोग करनेपर भी किसी प्रकारका विघ्न न होगा।

क्रोध उत्पन्न होनेवाले प्रसङ्गोंपर, उनको जिसपर क्रोध हुआ

हो,—जबतक क्रोधका आवेश न रुक जाय उसे अपनेसे अलग कर देना चाहिए ।

२—प्रारम्भमें जैसे बने वैसे कुछ समयतक क्रोध रोक रखना चाहिए। ऐसा करनेसे वह धीरे धीरे नष्ट हो जायगा। बाइबलमें कहा है कि :—

"अपनी क्रोधावस्थामें कभी सूर्य्यको अस्त मत होने दो ।" बाइबलके इस वाक्यका कितना भारी असर होता है वह निम्नाङ्कित उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा ।

एक समय दो अंग्रेज लड़कोंके बीचमें लड़ाई हो गई और वे क्रोधित हो एक दूसरेसे अलग हो गये। कुछ घंटे पश्चात् संध्या हुई। सूर्य्यास्त हुआ जान एक लड़का दूसरेके मकानपर गया, और दरवाजा खटखटाने लगा। भीतरसे दूसरे लड़केने आकर द्वार खोला। तब पहिलेने दूसरेका हाथ पकड़कर कहा,—"मित्र! सूर्यास्त होनेको आ गया। अब और कितने समय तक ऐसी स्थितिमें रहोगे?" यह सुन शीघ्र ही दोनोंने एक दूसरेसे हाथ मिलाया और आपसमें कुशल पूछने लगे।

जेसिस क्राइस्ट कहता है,—"जिस समय तू वेदीपर प्रार्थना करनेके लिये आवे, उस समय यदि तुझे किसी ऐसे मनुष्यका स्मरण हो जाय जिसके साथ तेरी अनबन हो गई है, तो तू एकदम प्रार्थनाको रोक दे। और पहिले उसके पास जाकर उसके मनको निर्मल कर और फिर प्रार्थना कर।"

इसकी स्पष्टताके लिये और भी एक दृष्टान्त लिखा जाता है।

एक शहरमें दो युवक जो क्रमसे स्कूल और कालेजमें पढ़ते थे; परस्पर मित्र थे। एक समय किसी कारणवश उनमें अनबन हो गई। दूसरे दिन स्कूलके प्रधान अध्यापकको इसका समाचार विदित हुआ, और उन्होंने स्कूलके विद्यार्थीसे क्षमा माँगनेको कहा। उसने कहा,—"यद्यपि इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है, तथापि यदि भूलसे कोई अपराध हो गया हो तो उसके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूं। ऐसा कहकर वह रोने लग गया, क्योंकि वह मान खंडित हो गया था। वह लड़का लड़ाई होनेके पहले कालेजके विद्यार्थीके पास मिलने जाया करता था। लेकिन जबसे उनके बीच अनबन हो गई, तबसे उसने वहाँ जाना बन्द कर दिया।

दूसरे मित्रको अपनी भूल स्वयं बहुत चुभने लगी, और जब जब वह प्रार्थना करनेके लिए बढ़ता था तब तब उसे क्राइस्टका महासूत्र याद आता था। उसे ऐसा भासता था कि "जबतक मैं अपने मित्रका समाधान न कर दूँगा, तबतक परमात्मा मेरी प्रार्थनाको न सुनेगा; क्योंकि परमात्मा स्वयं प्रेममय है। इस कारण जो मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ विषम व्यवहार करता हैं, परमात्मा उसकी प्रार्थना कभी भी नहीं सुनता।" यह सोच कर वह अपने मित्रसे मिलने गया; पर उस मित्रने कटाक्षपूर्वक कहा कि,—कांच टूटनेके पश्चात् नहीं जुड़ता कुछ समय पश्चात् एक दिन स्कूलमें सभा हुई। वहाँ उस विद्यार्थीने निर्भय होकर कहा,—"जो कुछ मुझसे हुआ है वह बिलकुल ठीक है उसमें

मेरा बिलकुल दोष नहीं और न मैं उसके लिये खिन्न ही हूँ।" प्रधानाध्यापक यह सुनकर बहुत क्रोधित हुआ और उसने उस लड़केको सजा देनेका प्रस्ताव किया, पर कालेजके विद्यार्थीके प्रार्थना करनेपर पीछे क्षमा कर दी गयी।

पश्चात् उस कालेजके विद्यार्थीने प्रेमकी प्रशंसा की और अपने मित्रसे मेल करनेके लिये बहुत प्रार्थना की, और अत्यन्त आर्द्र हृदयसे क्षमा माँगी। अन्तमें प्रेमकी विजय हुई। उस लड़केका हृदय द्रवीभूत हुआ और फिर उन दोनोंमें परस्पर मित्रता हो गई।

३—क्रोध शमन हुए पश्चात् अपनी भूल स्वीकार कर जिसपर क्रोध किया हो, उससे क्षमा माँगना भी क्रोधको जीतनेका एक अच्छा उपाय है। ऐसा करनेसे आत्मशिक्षणकी आदत पड़ जायगी, जिससे कि, क्रोध सहज ही जीता जा सकता है।

४—एक कागज़के टुकड़ेपर, अपने क्रोधके वशमें हो जानेके निर्बलतासूचक कोई शब्द या वाक्य लिखकर, ऐसे स्थानपर चिपका देना चाहिये, जहाँ उठते बैठते हमारी दृष्टि उसपर पड़े। इस उपायसे भी शनैः शनैः क्रोधको वशमें कर सकते हैं, बङ्गालके एक परगनेमें एक प्रसिद्ध वकील रहता था, वह स्वभावका बहुत ही क्रोधी था। एक समय उसने एक ब्राह्मणके साथ बहुत ही अनुचित शब्दोंका व्यवहार किया। पीछेसे उसे उस बातपर बहुत ही पश्चात्ताप हुआ और उसने उसी समय

भविष्यमें कभी ऐसा न करनेकी प्रतिज्ञा की। उसने काग़ज़के कितने ही टुकड़ोंपर "फिर भी" ऐसा शब्द लिखकर कमरेकी दीवारके चारों ओर चिपका दिया। तत्पश्चात् जब जब उसके हृदयमें क्रोधकी मात्रा बढ़ जाती, तो उन टुकड़ोंकी ओर दृष्टि पड़ते ही वह लज्जित होकर पृथ्वीकी ओर देखने लग जाता था। इस प्रकार क्रम क्रमसे उसका क्रोध बिलकुल ही शान्त हो गया।

५—क्रोधके आवेशमें—उस समय अपनी निर्बलता और उस निर्बलताकी अयोग्यताका ज्ञान करानेवाला यदि कोई मनुष्य हमारे निकट हो तो उससे भी लाभ हो सकता है। परन्तु इस प्रकारकी सहायता देनेवाले मित्रोंको हमेशा सावधान रहना चाहिये। क्योंकि, ऐसे समयमें सहज ही उद्धतता वा बेवक़ूफ़ीसे क्रोध शान्त होनेके बदले उलटा बढ़ जाता है।

६—क्रोधी मनुष्यके सम्मुख दर्पण रखनेसे भी बहुत बार क्रोध शान्त हो जाता है। क्योंकि क्रोधसे विरूप हुए चेहरेको देख, वह अवश्य लज्जित हो जायगा।

७-क्रोधके समय शान्त और मौन रह जाना भी क्रोध रोकनेका एक उत्तम उपाय है। ग्रीसके महान् तत्त्ववेत्ता प्लेटोको जब क्रोध आता था तो वह शान्त होकर बैठ जाता था, यदि उसे किसी अपराधीको दण्ड भी देना होता था तो क्रोध शान्त हुए पश्चात् देता था। एक समय वह इसी प्रकार शान्त होकर बैठा था कि, उसके एक मित्रने आकर उससे पूछा :—

मित्र—"क्यों मित्र! बैठे बैठे क्या कर रहे हो?

प्लेटो—"मैं इस समय एक क्रोधी मनुष्यको दण्ड दे रहा हूं।" क्रोधावेशमें दण्डका सीमासे अधिक हो जाना सम्भव है। इसलिये न्यायानुसार व्यवहार करनेके लिए जबतक क्रोध शान्त न हो जाय, रुकनेकी आवश्यकता है।

क्रोधके समय स्थान परिवर्तन करनेसे भी लाभ होता है। हमारे यहां यह एक उपदेशभी है कि,—"क्रोधको बाहर दिखलानेके पहले मनमें सौतक संख्या गिन लेनी चाहिये। ऐसा करनेसे भी बहुत लाभ हो सकता है। क्योंकि, सौतक गिननेमें जितना समय लगता है, उतने समयमें अधिकांश रूपमें क्रोध शान्त हो जाता है और फिर वह बाहर प्रकट ही नहीं होता।"

ऐसे समयमें ईश्वर भजन करनेसे भी लाभ होता है, क्योंकि उससे चित्त दूसरी ओर आकर्षित हो जाता है।

८—अपमान और निन्दाकी परवा न करनी चाहिये, और उनको सहन करनेकी आदत डालनी चाहिये। कल्पना करो कि, किसीने हमारा अपमान कर दिया, तो उससे हमारा क्या बिगड़ गया। मनुसंहितामें कहा है :—

"जिस मनुष्यमें अपमान सहन करनेकी शक्ति है वह तो आनन्दकी निद्रासे सोता है, और आनन्दहीसे उठता है और अपने कार्य्यमें शान्तिपूर्वक लग जाता है। दुःख तो अपमान करनेवालेहीको उठाना पड़ता है।

बुरा काम करनेवालोंको तो पहिले या पीछे उसका फल

भोगना ही पड़ेगा। यदि कोई मनुष्य बुरा कार्य्य करे तो क्या मुझे भी ऐसा करना चाहिये ? नहीं नहीं, अपना कर्त्तव्य तो मैं स्वस्थ चित्तसे ही निभाऊँगा।"

इस प्रकार विचार करनेसे भी मन शांत होकर, क्रोध शान्त हो जाता है।

६—ज्यों ज्यों काम, लोभ, अहंभाव, दोष दृष्टि अर्थात् दूसरेके दोषोंको ढूंढ़नेकी आदत कम होती जायगी त्यों त्यों क्रोधवृत्ति भी घटती जायगी। क्योंकि क्रोधके प्रधान प्रधान कारण काम, लोभ, मान और दूसरोंके दोष देखना ही है। जब इनकी तृप्ति न होगी तो क्रोध उत्पन्न होगा। भीष्म पितामह युधिष्ठिरसे कहते हैं कि,—"क्रोध लोभसे उत्पन्न होता है, और दूसरेके दोषोंको सुनने या देखनेसे बढ़ता है। एक मात्र क्षमा ही उसके शमनका मुख्य उपाय है।"

क्षमा और शान्तिप्रियता ज्यों ज्यों विकसित होती हैं, तथा ज्यों ज्यों ब्रह्मज्ञानमें अग्रसर होती हैं, त्यों त्यों क्रोधवृत्ति क्षीण होती जाती है। मानव स्वभावके उज्ज्वल भागोंपर सदा दृष्टि रखनेसे क्रोध उत्पन्न होनेका अवसर ही नहीं आता।

"क्रोध, लोभ और ईर्षाके कारण उत्पन्न होता है। वह किसी किसी समय बुरे दृश्योंके देखनेसे भो उत्पन्न हो जाता है। उसके रोकनेका उपाय प्राणीमात्रपर दयाभाव और अध्यातम ज्ञानका विकास ही है।"

"सत्यमेव जयते नानृतम्" अन्तमें सत्यकी जय और पापका

क्षय होगा। इस सूत्रपर दृढ़ विश्वास रखो। ईर्षा आपही दूर हो जायगी। महाभारतमें लिखा है कि :—"अपनेसे बलवान् शत्रुके द्वारा की गई हानियोंका बदला लेनेकी शक्ति जब हममें नहीं रहती तब ईर्षा उत्पन्न होती है। और वह क्षमा भावसे ही जीती जा सकती है।"

ऊपर जो क्षमाशील और दयावान् होनेके लिये कहा गया है उससे यह न समझना चाहिये कि, दुष्ट कर्म और अधर्मका विरोधी हमें कभी होना ही नहीं चाहिए। अधर्म और पापका विरोधी होनेसे, चाहे हमें विजय न मिले, पर तोभी कुछ असर तो होता ही है। तुम्हारे आसपास यदि ज़रा भी अधर्म दिखाई दे, तो उसका तुरन्त विरोध कर दो और उसके दूर करनेका प्रयत्न करो। पाप, दुराचार और दुर्गुणको दूर करनेके लिये आकाश और पातालको एक कर दो। पर मनकी समताको कभी भङ्ग मत होने दो। पाप और अनाचारके साथ बेशक द्वंद युद्ध करो, परन्तु करो शान्त और स्थिर चित्तसे। जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने कुरुक्षेत्रमें अर्जुनको युद्ध करनेके लिये कहा उसी प्रकार जो कुछ भी करो कर्तव्यके लिये, सत्यकी प्रतिष्ठा, और ईश्वरी आज्ञाका पालन करनेके लिये करो। जो मनुष्य अधर्म और अनाचारका विरोधी नहीं होता वह मानव जातिका शत्रु और शैतानका साथी है। महात्मा जोसेफ़ मेजिनी कहते हैं—"ज्यों ज्यों तुम अपने आसपास अनाचार और अनीतिको देखकर भी उनका विरोध नहीं करते उनके दूर करनेका प्रयत्न नहीं करते हो, त्यों त्यों अपने कर्त्तव्यसे भ्रष्ट होते हो।"

जो मनुष्य अधर्मके विरोधमें नहीं उठता, वह ईश्वरका अपराधी है। अधर्मके विषयमें कश्यप ऋषि प्रह्लादसे कहते हैं कि:—"समाजमें अधर्म द्वारा जो धर्मका पराजय हो, और उससे जो पाप हो उसका आधा भाग समाजके नेताओंपर, एक चौथाई अन्य लोगोंपर—जिनका कर्त्तव्य अधर्मका विरोध करनेका है—और शेष एक चौथाई भाग पाप करनेवाले पर रहता है। जहांतक अधर्मीको ढूंढ़कर उसे सजा न दी जाय, वहांतक समाजके सिरपरसे वह पाप नहीं उतर सकता।"

महात्मा गांधीके सत्याग्रह सिद्धान्तका भी यही रहस्य है। पापके अन्यायका निःशस्त्र सत्याग्रहसे प्रतिकार करना प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है। हमारी उत्तरदायिता कितनी ज्यादा है वह इससे जानी जायगी।

१०—क्रोधको वशमें करनेके लिये कितने ही शारीरिक नियमोंका पालन करनेकी भी आवश्यकता है। तामसिक गुणको बढ़ानेवाले भोजनका त्याग करना चाहिये, शरीरको सदा शीतल रखनेका प्रयत्न करना चाहिये। हाथको कोनी तक और पैरको घुटनेतक जैसे मुसलमान भाई नमाज़के समय धोया करते हैं उसी प्रकार ग्रीवाका भाग और मस्तक भी धोओ। ऐसा करनेसे मन शान्त रहता है।

उपरोक्त कल्पनानुसार क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले आठ विकारोंसे सदा सावधान रहो। कोई कोई ऐसी शङ्का करते हैं कि, "क्रोध करना यह तो व्यवहारोपयोगी है। इसलिये उसके

बिना दुनियाका व्यवहार किस प्रकार चल सकता है ?" उसके समाधानमें इतना ही कहना बस होगा कि,—"क्रोधकी अपेक्षा कृत्रिम व्यवहारसे कल्पित कार्य्य विशेष उत्तम रीतिसे सफल होता है। यह सामान्य अनुभव है।"

किसी भी शिक्षकसे पूछनेपर आपको विश्वास हो जायगा कि, शारीरिक शिक्षाकी अपेक्षा कृत्रिम क्रोधके वचनोंका विद्यार्थियोंपर विशेष असर पड़ता हैं। यदि कोई मनुष्य क्रोधांध हो तुम्हें मारनेके लिये आवे तो उसकी तरफ तुम हँसते हुए मुखसे देखो। उसका क्रोध शान्त हो जायगा। नम्र स्वभावसे कठोर और सरल हृदयवाले सहजहीमें वश किये जा सकते हैं।" नम्रताके आगे कुछ भी असाध्य नहीं। इसलिये कठोरताकी अपेक्षा नम्रता ही विशेष हितकर है।

इतने पर भी जब विना क्रोध दिखाये कार्य्यसिद्धि न होती हो तो, निष्कपटतासे बाहरी, दिखावटी (जिस प्रकारका क्रोध ऋषि मुनि आदि करते हैं) क्रोध प्रदर्शित करनेमें कोई हानि नहीं। यद्यपि सन्त पुरुष बाहरी क्रोध दिखाते हैं, तोभी उनके मनकी शान्तिका भङ्ग नहीं होता।" जिस प्रकार एक जलते हुए तिनकेसे सागरका पानी नहीं उबल सकता, उसी प्रकार किंचित् क्रोधसे सागरके समान महात्माओंका मन अशान्त नहीं हो सकता।"

एक समय नारद ऋषि अपनी प्रिय बीणा बजाते हुए बैकुण्ठ जा रहे थे, मार्गमें उन्हें एक सर्प मिला। उसने उन्हें

पूछा कि "महाराज! मुझे मोक्ष प्राप्तिके लिये क्या प्रयत्न करना चाहिए?" नारद ऋषिने उत्तर दिया कि, किसी जानवरको सताया मत कर। सर्पने उसी दिनसे उनकी शिक्षा ग्रहण की। किसी भी जीवको उसने न सताया। पास रहनेवाले कितने ही जंगली लड़कोंको यह बात विदित हुई। तो वे उसे बिलकुल निर्भय हो सताने लगे। मेंडक उसके पास आकर उसकी हँसी करने लगे। पर उसने सब कष्ट शान्तिपूर्वक सहे। कुछ समय पश्चात् उसी मार्गसे फिर नारद ऋषि निकले। तो उस सर्पने दुःखी होकर कहा:—"महाराज! देखिये मेरी क्या दशा हो रही है? मैं तो बिलकुल मृतप्राय हो रहा हूँ। क्षुद्र मेंडक मुझे पीड़ा पहुँचाते हैं। इस प्रकार कैसे निर्वाह हो सकता है।" यह सुन ऋषिने कहा:—"अरे मूर्ख! मैंने तुझे सतानेके लिये मना किया था; न कि, धमकी देने और फुफ़कार मारनेके लिये।"

इसके पश्चात् जब लड़के और मेंडक उसके पास आये तो वह जोरसे फुफ़कार मारकर उनपर दौड़ा। जिससे वे सब हड़बड़ा कर भाग गये और फिर कभी उसके पास आनेका नामतक भी न लिया।

इसी प्रकार यद्यपि इस संसारमें काटनेकी आवश्यकता नहीं, पर तोभी फुफकार मारने (दिखाऊ क्रोध) की आवश्यकता अवश्य है।

सातवां अध्याय ।
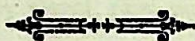
भक्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्न और उनके नाशके उपाय

(लोभ)
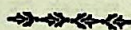
(४)

"मैं इस दुनियामें किस वस्तुका लोभ करता हूं ? और उस लोभकी तृप्तिसे प्राप्त हुए सुख कितने समयतक स्थित रहेंगे ? और उसका अन्तिम परिणाम क्या होगा ?" इस प्रकारके विचार करनेसे—भौतिक पदार्थोंकी अनित्यता और शुष्कपन स्पष्ट जाननेसे लोभका निरोध होगा ।

भीष्म पितामह युधिष्ठिरसे कहते हैं कि:—"लोभका मूल अज्ञान है। भोगोंकी अस्थिरताका ज्ञान होते ही लोभका नाश हो जाता है।"

कोई कहा करते हैं कि, "हमें इन्द्रिय जन्य सुखोंका लोभ नहीं है। हमें तो मान और प्रतिष्ठाकी क्षुधा है।" लेकिन वे भी तो क्षणिक हैं। बुद्ध भगवान् कहते हैं कि :—हे छन्दक ! भोगोंके सब पदार्थ सचमुच अनित्य अस्थिर और स्वभावसे ही चंचल है। पर्वतसे ढलकती हुई नदीके समान ही वेगसे वे

आकर उतर जाते हैं, वे खाली मुट्ठीके समान पोले और केलेके स्तम्भके समान निर्बल हैं, कच्चे भोजनके समान दुखदायी, और शरद् ऋतुके बादलोंके समान छिन्न भिन्न हो जानेवाले हैं, अकाशमें चमकती हुई दामिनीके समान चपल, और विषम भोजनके समान हानिकारक हैं, दुर्वचनोंके समान पीड़ादायक, तथा अबोध बालककी तुतलाहटके समान निष्काम हैं, पानीके बुदबुदेकी नाईं नाशवान् और ओसकी बूंदके समान असार हैं, दृष्टिदोषसे उत्पन्न भ्रमके समान शून्य और समुद्रकी तरह तूफानोंसे भरपूर हैं। इसी प्रकार वे खारे पानीके समान अतृप्तिकर, और सांपकी नाईं अस्पृश्य हैं, वे भय, क्लेश, अहंकार, आदि दुर्गुणोंके मूल कारण हैं। इसी कारण सज्जन मनुष्य इनको सदा दूरहीसे दण्डवत करते हैं। विद्वान् उनको नष्ट कर देते हैं। सम्भावित सज्जन उनकी हँसी करते हैं और बुद्धिमान् तो सदा ही उनसे अलग रहते हैं।" केवल मूढ़ मनुष्य उनका सत्कार करते हैं, उनमें लीन रहते हैं। ऐसी हालतमें हम ऐसे निन्द्य और विनाशकारी भोगोंके लिये क्यों छटपटावें? उनसे प्राप्त सुख कहाँतक स्थायी रह सकता है? महाकवि भारवि कहते हैं :—"आजके भोगे हुए भोग कल भूतकालिक हो जाते हैं। केवल उनकी स्मृति मात्र रह जाती है। इसलिये उन्हें स्वप्नवत् समझ उनमें कभी मग्न न होओ।" (किरातार्जुनीय)

उपरोक्त भारवि कवि फिर कहते हैं कि —ऐहिक भोगोंके पदार्थ हमारे मनमें आशाका संचार करते हैं। पर अन्तमें हमको

दुःख देते हैं। वे यद्यपि हमें क्षणिक सुख प्रदान करते हैं, पर अन्तमें हमें हानि पहुँचाते हैं। वे हमें छोड़कर चले जाते हैं, पर हम उन्हें नहीं छोड़ सकते। कामनाएं मनुष्यकी दुर्जय शत्रु हैं।" (किरातार्जुनीय)

बंगालमें एक उक्ति है कि :—"लोभसे पाप और पापसे मृत्यु होती है।"

हितोपदेशमें कहा है कि :—"लोभसे क्रोध, काम, मोह और अन्तमें नाश होता है।" लोभ सब पापोंका मूल है। इष्ट कामनाओंकी तृप्तिके मार्गमें कोई विघ्न आते ही क्रोध उत्पन्न होता है। लोभसे भला बुरा पहिचाननेकी शक्ति नष्ट होकर अन्तःकरण नष्ट हो जाता है। लोभ और कीर्त्तिको आकांक्षा बहुत बार मनुष्यको पापमें ढकेलती है। महाभारतमें कहा है :—लोभसे बुद्धिका नाश होता है, और बुद्धिका नाश होते ही मान और मर्यादा काफूर हो जाती है, धर्मका लोप हो जाता है, और अन्तमें—धर्मके लोप होते ही "—जितने कुछ सद्गुण होते हैं वे सभी नष्ट हो जाते हैं। (उद्योगपर्व ८१-१८)।

हितोपदेशमें और भी कहा है कि :—"लोभसे बुद्धि विचल जाती है और तृष्णा उत्पन्न होती है। तृष्णातुर मनुष्य इस लोक और परलोक दोनोंमें दुःख पाता है।"

इच्छित वस्तुके पा लेनेपर भी यदि लोभ शान्त हो जाय, तोभी बहुत अच्छा है। पर मनुष्य जीवनमें इससे उलटा ही होता है। ज्यों ज्यों हम लोभको तृप्त करते हैं, त्यों त्यों घी डालनेसे जलती हुई आगके समान बढ़ता ही जाता है।

इस सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिये राजा ययातिका दृष्टान्त बहुत ही उपयुक्त होगा।

पूर्वकालमें ययाति नामक एक राजा हो गया है, जब वह वृद्ध हुआ तब उसने विचार किया कि,—"अपनी काम वासनाओंको दबानेकी अपेक्षा उन्हें तृप्त करनेसे शीघ्र मुक्त हो सकते हैं। मैं तो अपनी कामनाओंको इसी सिद्धान्तके अनुसार तृप्त करूँगा।" पर वह स्वयंम् वृद्ध होनेके कारण भोग भोगनेमें असमर्थ था। इसलिए अपनी अभिलाषा पूरी करनेके लिये, उसने युवावस्था प्राप्त करनेके हेतु ईश्वरसे याचना की। उसके पुरु नामक पुत्रने अपनी युवावस्था पिताको अर्पण कर, स्वयं पिताकी वृद्धावस्था ग्रहण कर ली। ययाति राजाने इस प्रकार युवावस्था प्राप्त कर, नाना प्रकारके भोग भोगने प्रारम्भ किये। उसने केवल पचास ही वर्ष नहीं वरन् एक हजार वर्ष भोग विलासमें व्यतीत किये। पर तोभी अन्तमें परिणाम यही हुआ, उसकी लालसाओंमें किसी प्रकार का भी अन्तर न पड़ा। उसको विश्वास हो गया कि, कामनाएं भोग भोगनेसे कभी तृप्त नहीं होतीं, अन्तमें हजार वर्षके पश्चात् उसने अपने पुत्रको बुलाकर कहा;—"प्रिय पुत्र! तेरी युवावस्थाको ग्रहण कर मैंने यथेष्ट भोग भोगे, पर आकांक्षाएं भोग भोगनेसे कभी तृप्त नहीं हो सकतीं। जिस प्रकार अग्नि घी डालनेसे और भी अधिक भभकती है, उसी प्रकार भोगोंके उपभोग करनेसे कामतृष्णा और भी बढ़ती है। अखिल विश्वके

धन, धान्य, पशु, पक्षी और सुन्दर युवतियां एक मनुष्यकी वासनाओंको तृप्त करनेमें भी असमर्थ हैं। इसलिये उनका त्याग करना ही श्रेयस्कर है। सच्चा सुखी वही है, जिसने वासनाओंपर विजय प्राप्त कर ली है। वासना एक प्राणघातक रोगकी तरह विकारी पुरुषके मनसे कभी अलग नहीं होती और वृद्धावस्थाकी निर्वलतामें भी ज्योंकी त्यों प्रज्वलित रहती है। इसलिये अब मैं इन सबका त्यागकर, ईश्वरमें मन लगा, निर्द्वंद, सुख और दुःखको समान दृष्टिसे देखता हुआ, उदासीन और निर्मल चित्तसे काननमें विचरूंगा। मैं ऐहिक पदार्थोंमेंसे एकको भी अपना न समझूंगा और सुख दुःखमें कुछ भी भेद न गिनूंगा।"

जब भोगोंका सेवन वासना रहित हृदयसे किया जाता है तभी शान्ति मिलती है। लोभ एक मानसिक असाध्य रोग है। श्रीमद्भ भगवद्गीतामें कहा है कि :—"उमड़ती हुई नदियोंका पानी समुद्रमें मिलता है, पर तोभी जिस प्रकार समुद्र अपनी मर्यादाको नहीं छोड़ता उसी प्रकार जिस मनुष्यके हृदयमें सब, कामनाएँ उठकर भी उसे विचलित नहीं करतीं वही मनुष्य शान्तिका उपभोग कर सकता है। नकि, वह जो सदा उनकी आकांक्षा ही करता रहता है।" (अ० २ श्लो० ७०)

२—इच्छाओंको उत्तेजना देनेवाले पदार्थोंकी ओरसे मनको दूसरी ओर मोड़ लेनेसे भी लाभ होता है। श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि :—"जितनी इच्छायें उत्पन्न होती हैं, उन सबकी

उसी समय दबा देना चाहिए।" उनको तृप्त करनेका उपाय कभी न करना चाहिए। ऐसा करनेसे लोभ शीघ्र ही पैदा हो जाता है।

"जब जब चञ्चल मन विचलित हो जाय, तब तब संयमसे उसे शान्त कर देना चाहिए! (गी० अ० ६ श्लो० ५५)

जब कोई इच्छा खाने या पीनेकी उत्पन्न हो तो तुरन्त उसकी पूर्ति न करना चाहिए। जहाँतक बने उसे सदाके लिये दबा देना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो कुछ समय तक तो उसे अवश्य ही रोक रखना चाहिए। इस प्रकार सदा प्रयत्न करते रहनेपर सभी कामनाएं जीती जा सकती हैं और उनको अधीन करनेकी शक्ति भी प्राप्त हो सकती है। इस संसारमें जो कुछ (वस्त्रादि भोगोपभोग) तुम्हारा है वह सब संसारमें रहनेके लिये है। संसारमें इनके विना तुम्हारा कार्य्य नहीं चल सकता इसलिए उसका उपभोग करना चाहिए, नकि, सुख प्राप्त करनेके लिये।" इस प्रकारकी भावना हृदयमें रख, सांसारिक पदार्थोंसे उतना ही सम्बन्ध रखो। योग वासिष्ठमें वसिष्ठ कहते हैं :—"जिस प्रकार विषवृक्षको अंकुर फूटते ही नष्ट कर देना चाहिये उसी प्रकार छोटीसे छोटी भी कामनाको उत्पन्न होते ही संयमसे नष्ट कर देना चाहिए।"

और भी कहा है कि :—"इच्छारूपी मछलीको त्यागरूपी कांटेसे पकड़ो।" लालचसे जैसे बने वैसे अलग रहो। लल-चानेवाले पदार्थ यदि हमारे समीप न हों तो, उन्हें पानेकी कभी

इच्छा न करो। यदि वासना सम्बन्धी पदार्थ हमारे समीप हों और उसमें कुछ लालच उत्पन्न होता जान पड़े तो उससे ज्यों त्यों कर एकदम अलग हो जाओ।

एक कंजूस था, उसके पास बहुतसा धन था। उसने वह सब भूमिमें गाड़ रक्खा था। प्रतिदिन वह उसे दो चार बार देख लेता था। उसे देख देखकर वह बड़ा प्रसन्न होता था। उसे धन संचय करनेका बड़ा शौक था। धनको देखकर वह उछलने लगता था। यदि किसी दिन वह उसे बिना गिने हुए सो जाता था, तो रातभर उसे कल न पड़ती थी। इस धनके संग्रह करनेके लिये उसने कितने अत्याचार किये होंगे? इसका अनुमान पाठक स्वयम् कर सकते हैं। एक समय वह किसी कार्य्यवश विदेश गया। पीछेसे उसके अन्तरंग मित्रोंने उस धनको वहाँसे निकाल कर अन्यत्र रख दिया। जब वह कंजूस वापस आया और अपने धनके स्थानपर गया तो वहाँ एक बड़ा सा गढ़ा खुदा हुआ दृष्टिगोचर हुआ और उसमें एक फूटी कौड़ी भी न मिली। यह घटना देखकर उसकी जो दशा हुई, उसका दिग्दर्शन कराना भी हमारी लेखनीकी शक्तिके बाहर है। उसके घरके बर्तन भी उसके मित्रोंने ले लिये थे, तब तो उसे और भी दारुण दुःख हुआ।

अन्तमें उसके हृदयमें वैराग्यकी भावनाका उदय हुआ। वह विचार करने लगाः—"अहा! इस इतने धनका क्या उपयोग हुआ? अन्तिम समयमें मेरे यह क्या काम आया? उलटा

इस धनको यहाँ रख कर जानेमें मेरे हृदयमें दुखकी लहर उठा करेगी। ओफ़! इस धनके संग्रहमें अपने जीवनको व्यतीत कर क्या मैंने अपना सत्यानाश नहीं कर डाला? जो वस्तु भविष्यमें मेरे उपयोगमें आनेवाली है क्या उसे मैंने तिलांजली न दे दी।" ऐसा विचार कर जो कुछ उसके पास शेष था, उसका भी उसने त्याग कर दिया। यह देख उसके मित्रोंने उसे वह धन वापिस देना चाहा। पर उसने उसे स्वीकार न किया और संन्यासी हो गया। इस प्रकार उसके मित्रोंने उसकी इष्ट वस्तुका हरण कर, उसे सुमार्गपर लगा दिया।

लालचके पदार्थोंसे जहाँतक बने वहाँतक अलग रहनेका मतलब यह नहीं है कि, संसारका बिलकुल ही परित्याग कर दिया जाय। संसारके कार्य्य व्यवहारमें यदि धन, मान और प्रतिष्ठा प्राप्त हो तो उदारतापूर्वक उसे ग्रहण करना चाहिए। हमेशा ईश्वरसे यह प्रार्थना करनी चाहिये कि, "इन पदार्थोंकी प्राप्तिसे मैं कहीं इनमें बद्ध न हो जाऊं।" लोभके पदार्थोंकी ओर निरपेक्ष रहकर अपने कुटुम्ब और संसारके प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए।

३—कितनी ही व्यर्थ आवश्यकताएं हम स्वयम् अपने आप ही उत्पन्न करते हैं। जिससे हमारा लोभ बढ़ता है। जरा शान्त मस्तिष्कसे विचार कीजिये कि जिनके बिना हमारा कार्य्य नहीं चल सकता, ऐसी कितनी वस्तुएं इस संसारमें हैं? आपको यह देखकर आश्चर्य्य होगा कि हमारी आवश्यक-

ताएं इस संसारमें बहुत थोड़ी हैं। जिन स्वादिष्ठ और सुन्दर व्यंजनोंका हम भोजन करते हैं क्या हमें उनकी वास्तविक आवश्यकता है? एक ग्रामकी ओर दृष्टिपात कीजिये, क्या यहांके निवासी भी आपके समान सुन्दर वस्तुएं व्यवहारमें लाते हैं—क्या वे भी पौष्टिक भोजन करते हैं? पर तोभी क्या कारण है कि, वे हमसे विशेष बलवान् रहते हैं? दूधके समान सफेद गद्दियोंकी ओर देखिये और उसके पास पड़ी हुई मच्छर-दानियोंका अवलोकन कीजिये इन सबोंकी वास्तवमें क्या आवश्यकता है? गरीब ग्राम वासी भी सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं। क्या आपको विदित है कि, वे कहाँ सोते हैं? इन पैरोंके नीचेकी कठिन वसुंधरापर, मार्गके एक ओर किसी वृक्षके तले। इतनेपर भी उनकी निद्रा कितनी गाढ़ और निर्भीक रहती है?

हमें दो तीन मंजिलके मकान बिना चैन नहीं पड़ती। जब कि, हमसे भी बड़े बड़े जिनके कि जूते साफ़ करनेकी भी हममें योग्यता नहीं है—कहाँ रहते हैं? वे तो घास फूंसकी बांधी हुई छोटी, नीची, पर पवित्रताके प्रकाशसे प्रकाशित एकाध झोपड़ीमें रहते हैं। और जो हमें स्वप्नमें भी प्राप्त न हो सके, ऐसे आध्यात्मिक सुख और आनन्दमें निमग्न रहते हैं।

कदाचित् कोई यह प्रश्न करे कि, इन वस्तुओंका तो हमें अभ्यास हो गया है, इस कारण वे हमसे छूट नहीं सकतीं। इस प्रकार अपनी आदतोंके गुलाम लोगोंसे हमें तो यही कहना

है कि;—"राजा भर्तृहरिकी ओर देखो, उनको जितने सुख और भोगोंका अभ्यास था, उसका तो तुम्हें शतांश भी प्राप्त न होगा। इतनेपर भी वह राजा क्या कहता है:—"देख ! देख !! सब स्पृहाओंसे मुक्त भिक्षुक राजाके समान, बल्कि उससे भी अधिक कितने सुखसे सोया हुआ है। पृथ्वी ही उसका पलंग है, हाथ ही गलसुई है, आकाश ही उसका छत्र है, चन्द्रमा ही दीपक है और शान्ति ही उसकी पत्नी है। जिसके साथ वह अलौकिक आनन्दका अनुभव करता है और दिशाओंसे बहता हुआ शीतल, मन्द, समीर ही उसका भव्य पंखा है।" इसपर विचार करनेसे विदित होगा कि, हम पागल मनुष्यके समान व्यर्थकी हाय, हाय करते हैं और जब वे वस्तुएं हमें नहीं मिलतीं तो व्यर्थ ही दुःख पाते हैं। सन्त पुरुष प्रश्न करते हैं कि,—"सृष्टिमें स्थान स्थानपर मिलनेवाली नैसर्गिक वस्तुओंपर ही जब हमारा उचित निर्वाह हो सकता है, तो फिर कौन मूर्ख ऐसा होगा जो अपने उदर पोषणके लिये पापा-चरण करता फिरे।"

इतनेपर भी कितने ही पुरुष ऐसे होते हैं जिनकी क्षुधा भैंसे या बकरेकी हत्या किये विना शान्त ही नहीं होती। क्या वे फलाहारपर नहीं जी सकते ? जी तो सकते हैं, लेकिन उनकी कृत्रिम आवश्यकताएं उनके मस्तिष्कके बुरे विचारोंसे उत्पन्न होती हैं।

विलासवृत्तियोंका त्याग करनेका, सादे और पौष्टिक

भोजनके आहार, सादे बिछौनेपर सोने, और साधारण लेकिन स्वच्छ मकानमें रहनेका अभ्यास करनेसे लोभ सहजहीमें जीता जा सकता है। जीवनकी मुख्य मुख्य आवश्यकताओंपर ही दृष्टि रखनेसे, लोभको स्थान नहीं मिल सकता। अंग्रेजी कवि गोल्डस्मिथने सत्य ही कहा है कि:—"संसारमें मनुष्यको बहुत ही थोड़े पदार्थोंकी आवश्यकता है, और वह भी कुछ ही समयके लिये।"

हितोपदेशमें कहा है कि:—"सन्तोषरूपी अमृतके पानसे तृप्त हुए मनुष्यको जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है वह चारों ओर तड़पते हुए धनके लोभी जीवोंको कहां मिल सकता है।"

उपरोक्त दोनों उक्तियोंको स्मरण रख जो कुछ पास हो उसीसे सन्तुष्ट रहे, इधर उधरके "निरर्थक" टंटे छोड़ कर, हाय, हाय न करना चाहिये।
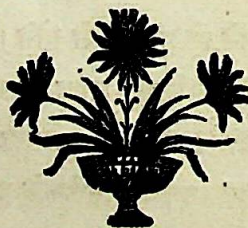
आठवां अध्याय।
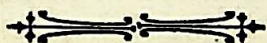
भक्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्न और उनके नाशके उपाय
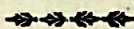
(मोह)

(५)

सब दुर्गुणोंका मूल मोह है और मोहका कारण अज्ञान, अयथार्थभाव और अयथार्थ-दर्शन है। जो पदार्थ वास्तवमें हमारे नहीं हैं, उन्हें हम अपना मानते हैं। जो पदार्थ अनित्य और अस्थिर हैं, उनके पीछे व्यर्थ भटकते फिरते हैं, हाय हाय करते हैं, मानों वे नित्य सब सुखोंके दाता हैं। "क्या यह देह मेरा है? जो वास्तवमें मेरा है, तो वह मेरे एक भी शुभ्र केशको श्याम करनेमें क्यों असमर्थ है? यदि यह घर मेरा है तो मैं क्यों अपने इच्छानुकूल समयतक इसमें नहीं रह सकता? और तो क्या, मेरे घरके सम्मुख पड़ी हुई मिट्टीतक मेरी नहीं। तोभी मैं सबको "मेरा मेरा" कहा करता हूं। माता, पिता, पुत्र, कलत्र इनमेंसे कोई भी मेरा नहीं है, पर तो भी केवल मोहके कारण मैं इन सबको अपना समझ बैठा हूं। "यह मेरी माता है,

यह मेरा पिता है, यह मेरी स्त्री है, और यह मेरा घर है।" इस प्रकारकी ममताका सम्बन्ध जिससे उत्पन्न होता है वही "मोह" है।

यदि इस संसारमें मोहका अस्तित्व न होता। तो इस दुनियांके नाशवान् पदार्थोंकी किसीको दरकार न रहती और विषय वासना दृष्टिको धुंधली कर आंखोंमें धूल डाल, घृणितसे भी ज्यादा घृणित पदार्थोंमें सुन्दर आकर्षण न कर सकती।

१—ज्ञानसे सारे अज्ञानका नाश हो जाता है। सूर्य्यके उदय होनेसे अन्धकार आप ही नष्ट हो जाता है। मैं कौन हूं? इन सब सगे सम्बन्धियोंमें मेरा अपना कौन है? इस विश्वमें मैं बंधा हुआ हूं। मोक्ष क्या है? आदि प्रश्नोंपर विचार करने तथा "मैं इस देहकी अपेक्षा कुछ विशेष हूं।" ऐसा समझनेसे मोहपर सहज ही विजय प्राप्त की जा सकती है। "मैं इस देह-रूपी पींजरेसे भिन्न हूं, क्योंकि यह शरीर अस्थिर है। योग वासिष्ठमें वसिष्ठ ऋषि श्रीरामचन्द्रको कहते हैं:—"मैं दुर्बल हूं, दुखी हूं, बन्धनमें बंधा हूं, हाथ पैर आदि अवयव मेरे हैं आदि विचार, और उन्हींके अनुसार किये गये कार्य्य मनुष्यको बन्ध-नमें डालते हैं। पर "मुझे दुःख है ही नहीं। मेरा देह ही नहीं। फिर मुझे दुःख होही कैसे सकता है?" इत्यादि विचारोंसे मोक्ष मिलता है तब ही मनुष्यको "मैं हड्डी और मांसका समूह नहीं हूं, मैं इस देहसे भिन्न हूं" इस प्रकारका विश्वास हो जाता है।

हे राघव! "जो अल्प बुद्धि है, वह अनात्माको आत्मा मानकर मोहवश हो जाता है, पर जो जागृत और बुद्धिमान है वह ऐसा नहीं करता।"

मोहमुद्गरमें श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि—"कौन तेरी स्त्री है? और कौन तेरा पुत्र? यह संसार अति विचित्र है। इसलिये तू किसका है? कहांसे आया है? इसका विचार कर। ऐसा विचार करनेसे ज्ञान प्रगट होता है और अज्ञानका नाश होकर उसके स्थानपर परम सुखका धाम ईश्वरपर विश्वास उत्पन्न होता है। उस ज्ञानको प्राप्त कर विश्वास उपजानेका मार्ग वसिष्ठ-मुनि इस प्रकार बतलाते हैं:—"हे राम! हे अनघ! जिस ज्ञानको प्राप्त किये पश्चात् मनुष्य फिर कभी मोहके कीचड़में नहीं फँसता, उस ज्ञानकी ये सरल भूमिकाएं हैं। १ शुभेच्छा, २ विचा-रणा, ३ तनुमानसा अथवा वृत्तिनिरोध, ४ सत्तापत्ति, ५ असं-सक्ति, ६ पदार्थ भाविनी, और ७ तुर्यगा है।"

"मैं क्यों मूढ़ होकर बैठा हूँ? चलूँ, अब संसारके मोहको छोड़कर सत्संग और शास्त्रोंका अभ्यास करूं।"

इस प्रकारके विचार जब मनुष्यके हृदयमें आने लगते हैं तब उसे "शुभेच्छा" की भूमिकाको प्राप्त हुआ समझते हैं।

"संसारसे विरक्त होकर, सत्समागमसे अथवा सज्जन मैत्रीसे मनुष्य जब कुमार्गका त्याग कर, आचरणको उत्तम बना ले, तब उसे "विचारणा" नामक भूमिकामें पहुंचा हुआ जानना चाहिये।"

"शुभेच्छा" और "विचारणा" के परिणामसे उत्पन्न हुई इन्द्रियजन्य शारीरिक सुखोंके प्रति उदासीनता ही "तनुमानसा" नामक तीसरी भूमिका है।"

"जब मन उपरोक्त तीन भूमिकाओंके सेवनसे किसी भी ऐहिक भोगके पदार्थमें लिप्त न होकर केवल परमात्मामें ही विश्राम पाता है, तब उसे "सत्तापत्ति" की प्राप्ति हुई समझना चाहिए।"

"ऊपर कही हुई चार स्थितियोंके अनुभवोंसे मनको जब अद्भुत शान्ति मिलती है, और उसके विचार संसारकी ओरसे बिलकुल विरक्त हो जाते हैं, तब "असंसक्ति" प्राप्त होती है।"

"पहली पांच भूमिकाओंके अभ्याससे, आभ्यंतर अथवा बाह्य किसी भी विषयकी चिन्ता शेष न रहनेसे, जब मनको अपने अन्दर ही आनन्दानुभव हो जाय, और परब्रह्मके ज्ञानको पानेका परिश्रम करे, तब वह स्थिति "पदार्थ भाविनी" कहलाती है।"

इन छहों भूमिकाओंका लाखों वर्ष अभ्यास करनेसे जब सब भेदवृत्तियोंका नाश हो जाता है और परब्रह्ममें तदाकार वृत्ति हो जाती है, तब मनको "तुर्यगा" अवस्थामें गया हुआ समझना चाहिए।

हे राम! जो महाभाग इस सातवीं श्रेणीको प्राप्त हो गये हैं वे आत्माराम अपनी आत्मामें ही आनन्द मनानेवाले जीवन-मुक्त महात्मा हैं।

मनुष्यके लिये इससे ऊँची श्रेणी और क्या हो सकती है? जिस मनुष्यने मोहसे उत्पन्न हुई तमाम कामनाओंको तिलांजलि दे दी है, ठोकर मार दी है उसके आनन्दका क्या ठिकाना?

"ऐहिक भोगोंकी इच्छाओंका नाश होते ही संसार-मोह-रूपी तमका आवरण नष्ट हो जाता है। तब जिस प्रकार शरद् ऋतुके निर्मल गगनमें चन्द्रमा प्रकाशमान होता है उसी प्रकार मोहरूपी बादलके नष्ट होते ही निर्मल हृदयमें, अजर, अमर, अनादि, अनन्त, सच्चिदानन्द स्वरूप प्रकाशमान हो जाता है।"

इससे यह न समझना चाहिए कि, योगी दुनियाके कर्त्तव्य-को लात मारकर इस स्थितिपर पहुँचते हैं। ऐसा कभी विचार न करना चाहिए कि, सांसारिक कार्य्योंके करनेकी अब क्या आवश्यकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण इस सम्बन्धमें अर्जुनसे कहते हैं कि:—
"अज्ञानी मनुष्य कर्मको कर्म-फलमें आसक्त होकर करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी जनोंको अनासक्त रहकर लोककल्याणके अर्थ कर्म करना चाहिए!" (गी० अ० ३ श्लो० २६)

जब हम इस दुनियामें भेजे ही गये हैं, तब उसके लिये, अपने कर्त्तव्यका पालन करना आवश्यक है। केवल इतना ही ध्यान रखना चाहिये कि, जिस प्रकार वसिष्ठ ऋषिने श्रीराम-चन्द्रको कर्म करनेका उपदेश दिया है उसी प्रकार हमें भी करना चाहिये। वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि:—"हे राम! अन्तः-करणसे सब आशा और आसक्तिका त्याग करके इस संसारके सब कर्त्तव्योंको बाहरसे पालन करना चाहिए। बाहरसे सदा कर्ता बनो। अन्तरंगमें सदा अकर्तृ बुद्धिसे विचार करो। और हे रामचन्द्र! जिस प्रकार आकाश सर्वव्यापी होते हुए भी

किसीसे बाधित नहीं है, उसी प्रकार सब तरहके कार्य्य करते हुए भी "कार्य्यका कर्त्ता" ऐसा अहंकार किये बिना ही जय पराजय, लाभ और हानिकी परवा न करते हुए स्वभावसे संसारके व्यापारमें जुड़े रहो।"

हितोपदेशमें भी कहा है किः—"यह मेरा मित्र है, और यह नहीं ; ऐसी भावना क्षुद्र मनवाले ही किया करते हैं। यह तो तुच्छबुद्धिका परिणाम है। उदार वृत्तिवाले तो सदा "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना करते हैं।"

अहा ! कितना सरस उपदेश है ? जो कुछ कार्य्य करना पड़े वह केवल ईश्वरकी आज्ञा पालन करनेके लिए कर्त्ता बुद्धि रक्खे बिना ही करना चाहिए। सांसारिक दृष्टिसे यदि कोई मित्र हमारा शत्रु भी हो, तो उसे भी मित्र मानना चाहिए। हमें उसका सामना करना है तो वह भी केवल सत्य-प्रतिष्ठाके लिये—उसकी अनीति और दुर्गुणोंको दूर करनेके लिये ही उसके अधर्म और अनीति ही हमारे शत्रु हैं न कि कोई एक मानव विशेष !

२—प्राणी मात्रपर समान प्रेम रखो, क्योंकि मनकी संकीर्णतासे मोहकी वृद्धि होती है। जबतक हम सब मनुष्योंपर समान दृष्टि रखना न सीखेंगे, तबतक हम किसी एक पुरुष या स्त्रीके मोहमें ही बंधे रहेंगे। अपने प्रेमकी परिधिका विस्तार करनेसे मोह आप ही आप दूर हो जायगा। जिस हृदयमें, प्रेम एक ही पदार्थपर अवलम्बित रहनेके बदले बहुतसे पदार्थोंपर फैल जाता है, वहाँ मोहको स्थान ही नहीं मिलता है।

माताके शुद्ध और निःस्वार्थ प्रेममें भी, निःस्वार्थता लिये हुए मोह विद्यमान रहता है। ऐसी कितनी माताएं हैं जो अपने पड़ोसियोंके बच्चोंपर भी अपने ही बच्चेके समान प्रेम रखती हैं ? जो माता जाति और सम्प्रदायका विचार न रख-कर चाहे जिस बालकको अपने हाथमें लेकर खिलाती है, और उसे अपने ही बच्चेके समान मानती है वही मोहमुक्त कहला सकती है।

कौटुम्बिक सम्बन्ध तो क्या, यहाँतक कि, बहुत बार तो मैत्री ही मोहके उपजानेमें सहायक होती है। जब हम किसी घनिष्ठ मित्रकी अनुपस्थितिमें बेचैन होने लग जाते हैं हमारे मनकी शान्ति जाती रहती है, और यहाँतक कि, उसकी अनुप-स्थितिमें हम अपने नित्यकर्म भी नहीं कर सकते, तो फिर वह मोह नहीं तो और क्या है ? उसका प्रतिकार समदर्शिताके बढ़ानेसे ही होता है।

ज्यों ज्यों हम शुद्ध प्रेमका अधिकाधिक सेवन करेंगे, त्यों त्यों हमारा हृदय कोमल हो जायगा। प्रेमकी दृष्टिमें कुरूपसे कुरूप वस्तु भी सुन्दर दिखलाई देती है। एक क्षुद्रसे क्षुद्र वृद्धको भी परमात्माका प्रेमी हमारी अपेक्षा किसी विशेष दृष्टिसे निहा-रता है। जैसी सुन्दरता आकर्षक वस्तुमें भी दृष्टिगोचर नहीं होती, वैसी सुन्दरता वह मनुष्य सामान्यसे सामान्य वस्तुमें भी देख सकता है।

ज्यों ज्यों हमारी समदृष्टिका भाव बढ़ता जाता है त्यों त्यों ऐसा

आकर्षण बढ़ता जाता है। ज्यों ज्यों हम दूसरोंको अधिकाधिक चाहने लगते हैं, त्यों त्यों दूसरा भी हमें उतना ही अधिक चाहता है। हमारे आसपास एक प्रेममयी सृष्टिकी रचना होती हैं। भ्रमर जैसे सब वस्तुओंमें मधुको निहारता हैं, उसी प्रकार हमें भी मनुष्य मात्रमें प्रेमका बहता हुआ झरना दृष्टि गोचर होता है। मनुष्यकी उत्पत्तिका मुख्य हेतु ही प्रेमका आनन्द है और जिस प्रकार इस संसारमें मकरन्दसे सने हुए पुष्पमें कोई दोष नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार दयालु परमात्माने भी प्रेमीके हृदयमें कोई दोष नहीं रक्खा है। यह प्रेमरूपी मद्य पापीसे पापीके हृदयमें भी स्थित है और ढूंढ़नेसे मिल सकता है।

सब प्रकारके मोहका दमन करनेके लिये विश्वव्यापी प्रेम एक रामबाण उपाय है। धार्मिक मोहके परिणाममें धर्मान्धता आती है। पर ज्यों ज्यों निष्पक्षपात और सर्वव्यापी प्रेममें हम अग्रसर होते जायँगे, त्यों त्यों हमारे आगेसे तरह तरहके पंथों, नाना प्रकारके मतमतान्तरोंका झगड़ा दूर होता जायगा। इस प्रकार जब हमारा हृदय विशाल हो जायगा, तब हम सब धर्मके लोगोंमें समभावसे उन्नतिके मार्गमें अग्रसर होनेका यत्न करेंगे।

महात्मा बुद्धके चरित्रकी ओर दृष्टिपात कीजिये। उसका उदार हृदय इस अमृतमय प्रभुप्रेमसे छलक गया था और इसीसे केवल निःस्वार्थपरताके कारण उसने अपनी प्राणप्रिय अर्द्धांगिनीका परित्याग कर दिया। महात्मा बुद्ध निःस्वार्थ विश्वप्रेममें डूब गये थे और उस विशाल प्रेमके बलसे ही वे

संसारके क्षुद्र प्रेमको लात मारनेमें समर्थ हुए। उन्होंने गृहत्याग करनेके एक रात्रि पहले, अपनी धर्मपत्नीके प्रति विश्वप्रेममें सने हुए कितने ही वाक्य कहे थे। वह निद्राकी गोदमें लेटी हुई अपनी प्रिया यशोधराको संबोधन करते हुए कहते हैं कि:—"मैं तुझे बहुत चाहता हूँ। क्योंकि मैं विश्वके प्राणी मात्रको बहुत चाहता हूँ" (और उनमेंसे तू भी एक है।)

जो प्रेम विश्वव्यापी नहीं, वह सच्चा प्रेम नहीं। वह तो केवल मोह है। मोहसे मनुष्य कुछ मर्यादा बांधकर, बंधनसे बंध जाता है। प्रेमसे मनुष्य विश्वकी ओर अपने मार्गको फैलाता हुआ बढ़ता जाता है। मोह मनुष्यके हृदयको संकुचित करके बन्धनमें जकड़ देता है जब कि, प्रेम मनुष्यके हृदयको विशाल बना, सर्वव्यापकताकी ओर अग्रसर करता है। महात्मा बुद्ध अपनी अर्द्ध निद्रित प्रेमिकाको सम्बोधन करके कहते हैं "हे निद्रावश प्रिये! मेरे जानेका समय हो गया है। तेरा ही प्रेम मुझे किसी ऐसे कार्य्यकी ओर प्रेरित कर रहा है जिससे संसारका कल्याण हो, पर अपने बीच वियोग हो।"

अहा! पत्नीके प्रति विशुद्ध प्रेम ही, उन दम्पतिमें परस्पर वियोग करवा कर, संसारके कल्याणकी ओर प्रेरित कर रहा है!!! पापमें डूबी हुई दुनियांका उद्धार करनेके लिये, सत्य प्रेमसे किये जानेवाले कार्य्योंमें, यदि उनका दाम्पत्य प्रेम मार्ग रोकता तो वह भी प्रेम नहीं मोह ही कहलाता। कर्त्तव्यपालनके समय मनुष्य जिस सम्बन्धको लेकर अपनी प्रिय वस्तुमें आसक्त रहता है—उससे अलग नहीं होता, वह मोह है।

जिस समय बुद्ध गृह त्याग कर जा रहे थे, उस समय उनके साथी छन्दकने उन्हें स्मरण दिलाकर कहा:—"आपके गृहत्यागसे आपके माता पिता और अन्य कुटुम्बियोंको कितना दुःख होगा ? और यदि ऐसा है तो जिस प्रेमका आप गर्व करते हैं वह कहाँ जाता रहेगा ?"

सिद्धार्थ उसका प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं :—"हे मित्र ! वह प्रेम तो असत्य है। क्योंकि, वह केवल स्वार्थमय प्रेम प्रेमपात्रमें अपने आनन्दकी पूर्तिके हेतु ही रहता है, पर मैं तो संसारके प्राणी मात्रका सुख अपने और कुटुम्बियोंके सुखकी अपेक्षा विशेष चाहता हूं और जो प्रेमकी पराकाष्ठासे साध्य हो तो, सारे संसारको बचानेके लिये जाता हूं।"

ऐसा कह वह "शाक्यसिंह" एक वास्तविक सिंहकी तरह क्षुद्र मोहको अपने पैरों तले कुचलकर, विश्वव्यापी प्रेमसे संसारका उद्धार करनेके लिये अपने कुटुम्बको त्यागकर चल निकला !!!

नवाँ अध्याय ।

भक्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्न और उनके नाशके उपाय ।
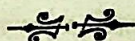
(मद)

(६)

आत्मनिरीक्षण करनेसे मद या मिथ्याभिमान कभी ठहर नहीं सकता । हमारा ज्ञान और शक्तियाँ कितनी मर्यादित हैं, इसका विचार करो । जिसको अपनी विद्याका गर्व है उससे मैं पूछता हूँ कि,—"तू अपने विषयमें क्या जानता है ? क्या तू जानता है कि तेरे अवयव क्या हैं ? हम अपने हाथोंसे ही स्पर्श करते हैं, आँखोंसे ही देखते हैं, और मनहीसे विचार करते हैं, इसका कारण क्या है ? यदि तू इन प्रश्नोंका उत्तर नहीं दे सकता, तो फिर अपनी विद्याका गर्व क्यों करता है ? कदाचित् तू यह समझता होगा कि, अमुक विषयका पारंगत तो मैं एक ही हूँ तो फिर मैं तुमसे पूछता हूँ कि,—"तूने उसमें अपने प्रयत्नसे क्या किया है ? इन सब प्रश्नोंपर विचार कर मुझसे कह कि, गर्व करनेके लिये तेरे पास कितने साधन हैं ?"

अय पण्डित ! तू अपने ज्ञानका क्या अभिमान करता है ?

मैं यही एक प्रश्न पूछता हूं कि—"तू अपने आपको जानता है ? क्या तू जानता है कि, "आत्मा क्या है ?" अन्तरङ्गकी बात तो दूर रही, पर यह रक्तका बिन्दु क्या वस्तु है ? यह तो बतला।"

"अरे ! विज्ञानकी डींग मारनेवाले विज्ञान शास्त्री ! कह तो सही कि, "यह रेतीका कण कहाँसे आया और किस वस्तुका बना हुआ है ? लोहचुम्बक लोहेका आकर्षण करता है, इसका क्या कारण है ?" अपने आसपास रहनेवाले प्रकृतिके एक भी कणका रहस्य हमें ज्ञात नहीं । जिन लोगोंको अपने अधिकारका घमण्ड है; उनको वास्तवमें कितना अधिकार है ? एक वक्ता कहता है कि, "मैं अपनी वक्तृत्वकलासे आधी दुनियांको मुग्ध कर सकता हूँ ।" हे मित्र ! क्या तू स्वयं इस कलाका सम्पादक है ? और क्या हमेशा ही इस कलापर तेरा अधिकार बना रहेगा ? एक दिन तेरी वक्तृत्वकलासे हज़ारोंका मनोरंजन होगा, पर दूसरे ही दिन उससे अधिक परिश्रम करनेपर भी किसीपर कुछ असर न होगा ; इसका क्या कारण है ?

इसी प्रकार कवि, गणितशास्त्री, और योद्धाओंके विषयमें समझना चाहिए। उत्तमसे उत्तम कवि जी तोड़ परिश्रम करनेपर भी बिलकुल नीरस और निकृष्ट श्रेणीकी कविता कर पाते हैं। बड़ेसे बड़े गणितशास्त्री भी कोई समय अपने छोटे छोटे शिष्यसे भी मात हो जाते हैं । एक सेनापति जिसने कल अपनेसे दुगुनी सेनापर विजय प्राप्तकर वाहवाही लूटी थी, आज

एक छोटेसे शत्रुसे परास्त हो जाता है। ऐसे कितने ही दृष्टान्त दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार जब अपनी शक्तिपर ही हमारा अधिकार नहीं तो फिर उसका गर्व कैसे किया जाय? अपने शरीरका ही दृष्टान्त लो, फिर देखो कि, हमारा उसपर कितना अधिकार है। एकाध पास पड़ी हुई वस्तु लेनेके लिये हाथ लम्बा करते ही यदि लकवा हो जाय, तो हाथ ज्योंका त्यों रह जाता है फिर वह झुक नहीं सकता। बोलते बोलते ही यदि वाणीकी शक्ति बन्द हो जाय तो फिर हम बोल भी नहीं सकते।

मनुष्यका बल अति क्षुद्र है, और क्षणभंगुर है। वह विचार कुछ करता है, और हो कुछ जाता है? जिन शक्तियोंका मनुष्य अभिमान रखता है वे भी क्षणभंगुर हैं। बहुतसी मानवी आशाएं कोई कोई आकस्मिक घटनाके घट जानेसे एकदम धूलमें मिल जाती हैं।

स्मरण रक्खो कि, हमारी क्षुद्रसे क्षुद्र शक्ति भी ईश्वरीय दान है। इस सिद्धान्त पर केनोपनिषद्में एक सुन्दर कथा लिखी गई है :—

एक समय देव और दानवोंके बीचमें घोर संग्राम हुआ उसमें ईश्वरकी कृपासे देवता विजयी हुए। इससे देवता अभिमानके मारे फूले न समाये। वे समझने लगे कि, हम अपनी शक्तिसे विजयी हुए हैं। अन्तर्यामी ईश्वरको जब यह बात विदित हुई, तो उन्होंने देवताओंका मद तोड़नेके लिये एक विचित्र रूप धारण किया।

देवता उसके इस विचित्र रूपको देखकर चकित हो गये। क्योंकि वे ईश्वरको नहीं पहचान सके। उन्होंने उस विचित्र प्राणीका संवाद लेनेके लिये अग्निको भेजा। यह ईश्वरके समीप गया, उन्होंने उससे पूछा, "भाई! तू कौन है? और तेरेमें क्या शक्ति है?" उसने कहा "मैं अग्नि हूं, और दुनियांकी सब वस्तुओंको जलाकर भस्म कर सकता हूँ। यह सुन ईश्वरने उसके आगे एक तिनका धर दिया, और जलानेको कहा। जब अग्नि अपनी सब शक्ति लगाकर भी न जला सका, तो पराजित होकर, देवताओंके पास लौट आया और कहने लगा:— "मित्रो! वह बला कौन है, मैं नहीं कह सकता।" तब देवताओंने वायुको भेजा। वायुसे भी उपरोक्त प्रश्न किये पश्चात् उसे भी ईश्वरने एक तिनका उड़ानेको कहा पर वह भी अपनी सब शक्तियां लगाकर, पराजित हो, अपना सा मुँह ले, चला आया, और अग्निके समान ही उत्तर दिया। अन्तमें देवताओंका राजा इन्द्र आया, इतनेमें भगवान् अन्तर्धान हो गये, इन्द्रने आँख उठाकर ऊपर देखा तो, उसकी दृष्टिमें स्वर्णमयी देवी उमा आई। वह चकित हो, उसे एकटक निहारने लगा। अन्तमें उसने उससे उस अदृश्य हुई मूर्तिके विषयमें पूछा। उमाने कहा कि,— "वे तो साक्षात् भगवान थे। तुम्हारी विजय पर, तुम्हें घमण्ड करते देख, तुम्हारा मद तोड़नेको ही इन्होंने यह विचित्र रूप धारण किया था और तुम्हें दिखला दिया कि, उसकी सहायताके विना तुम निर्बल हो।"

अपनी चेतनाकी सहायताके विना जब हाथ हिलाना भी असम्भव है, आँखोंसे देखना भी उसकी सहायताके बिना दुस्साध्य है; तो फिर हम किस वस्तुका अभिमान करें ? ये सब शक्तियां जिस अलौकिक शक्तिपर अवलम्बित हैं उसके विषयमें केनोपनिषद्में कहा है कि,—"वे प्रभु ही हमारे कर्णके कर्ण हैं ; मनके मन हैं ।" तैत्तिरीय उपनिषद्में कहा है कि—"इस विश्वके समान विशाल स्वरूपवाले, सच्चिदानन्द परमात्माकी यदि सहायता न होती तो कौन हिल डुल सकता था और कौन जीवन धारण कर सकता था ।"

हम तो केवल उधार ली हुई वस्तुओंसे अपना व्यवहार चलाते हैं । यदि हमारा ऋणदाता अपना ऋण चुका ले तो हम कैसे भिक्षुक बन जायं ? ईश्वरको, उससे लिया हुआ ऋण चुकानेकी वात तो दूर रही, पर जो कुछ हमें उसके पाससे प्राप्त हुआ है, क्या हम उसका ठीक ठीक हिसाब भी बतला सकते हैं ? नहीं, निश्चय हमारे हिसाबमें बहुत गड़बड़ निकलेगी । क्या कोई छाती ठोककर निश्चयपूर्वक कह सकता है कि "मैं परमात्माके सम्मुख बिलकुल ठीक ठीक हिसाब दे सकूंगा ? महात्मा कबीरने भी कहा है कि :—

"चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय ।
दो पाटनके बीच आ साबत बचा न कोय ॥"

हम अमुक मनुष्यकी अपेक्षा ऊँचे हैं ऐसी डींग किस प्रकार मार सकते हैं ? हम अपनी मण्डलीके एक मनुष्यका मनो-

व्यापार तो दूर, क्या अपने अन्तःकरणको जाननेकी भी शक्ति रखते हैं ? यदि हमम वह शक्ति भी नहीं है तो फिर अहंकार करनेका अवसर ही कहां है ? आत्म-निरीक्षणकी त्रुटिके कारण ही हम अपने पापों और दोषोंको नहीं देख सकते। चाहे जिस क्षणमें अपने अन्तःकरणको जांचें तो विदित होगा कि, असंख्य छोटे बड़े पाप-जन्तु हमारी अन्तरात्माको खोद खोदकर खा रहे हैं। क्षणभर विचार करनेसे विश्वास होगा कि, जिन बातोंका हम अहंकार कर रहे हैं, उनमेंसे बहुतसी तो बड़ी ही लज्जा-जनक हैं।

एक मुसलमान फकीरको अपने धार्मिकपनका बड़ा अभिमान था, वह हमेशा ऐसी कल्पना किया करता था कि, एक ऊँट प्रति दिन रात्रिके समय उसे उठाकर स्वर्गमें ले जाता है। इस प्रकार सारी रात्रिभर वह उस कल्पित सुखका भोग करता है, और प्रातःकाल अपनेको उसी झोपड़ीमें अपने बिछौनेपर पड़ा पाता है। एक दिन "जवानिद" नामक एक दूसरा फकीर उससे मिलनेके लिये आया। उसने उसके कुशल समाचार पूछे, तो जिस प्रकार वह स्वर्ग-सुखका उपभोग किया करता था, उसने वह सब बातें बड़े ही आनन्दके साथ बतलाईं। यह सुनकर जवानिदने उसे कुरानकी कुछ आयतें सिखाईं और कहा कि— "अबकी बार जब तुम स्वर्गमें जाओ, तो इन आयतोंको तीन बार पढ़ना।" दूसरे दिन फकीरने स्वर्गमें जाते समय वे तीन आयतें पढ़ीं, जिससे पास ही खड़े हुए सब देवदूत भयभीत

होकर नष्ट हो गये और वह अकेला ही रह गया। जब उसने आस पास अपनी दृष्टि दौड़ाई, तो मरे हुए मनुष्योंकी हड्डियोंके ढेरके सिवाय कुछ भी दिखाई न दिया।

हमारेमेंसे बहुतसे लोग इसी प्रकारके काल्पनिक सुख भोगते हैं। पर ज़रा सूक्ष्म दृष्टिसे देखो कि, इस बाह्य सौन्दर्य्यके भयके दबदबे तथा मानापमानसे आच्छादित खास वस्तुके तले क्या दृष्टिगोचर होता है। मृतक मनुष्योंकी हड्डियोंके सिवाय कुछ नहीं। अरे धर्मगुरु! तू अपने ज्ञान और शक्तिकी इतनी डींग मारता है और अपनेको सब शिष्योंसे ईश्वरके समान पुजाता है। पर ज़रा अन्तःकरणमें देख कि, तू कितना पोला है? तेरा उपदेश और ज्ञान कैसा दांभिक और हास्यजनक है? ओ, वरिष्ठ न्यायाधीश! तुझे भाग्यवशात् प्राप्त हुई इस पदवीका बड़ा अभिमान है! पर ज़रा देख, कि, तू जिन्हें अपनेसे छोटा समझ कर तिरस्कार करता है, वे कितने ही विषयोंमें तेरेसे कितने बढ़े चढ़े हैं? तू प्रति दिन इतने लोगोंकी अर्जियोंका इन्साफ़ करता है, पर ज़रा एकान्तमें जा, ईश्वरका नाम लेकर अपनी वास्तविकताका निरीक्षण कर कि तेरेमें कितना ज्ञान, विचार-शक्ति, और प्रामाणिकपन है? जिस ज्ञान, बुद्धिमत्ता और न्यायके अभिमानके साथ तू दूसरेके झगड़ोंका फैसला करता है, उसी ज्ञान और बुद्धिमत्ताके साथ तू अपने लाभमें गति पहुँचा सकता है और जिस ज्ञान, बुद्धिमत्ता और प्रामाणिकपनको तू अपना समझता है, क्या वे वास्तविक रूपसे तेरे

ही हैं ? इस प्रकार आत्मनिरीक्षण करनेके पश्चात् तू अवश्य कहेगा कि,—"अहो ! मैं किसका अभिमान करता हूं ? मैं तो केवल राखका ढेर हूं मेरे आसपास सफेद संगमर्मरके समान हड्डियोंकी दीवाल है। बस ! शुष्क हड्डियां ही हैं, दूसरा कुछ नहीं।"

आत्मनिरीक्षणके द्वारा सब दुर्गुणोंको अपनी दृष्टिके सम्मुख रखना चाहिये, जिससे कि मिथ्याभिमानका नाश हो जाय। अपने दोषोंको दूर रखकर, केवल गुणोंका ही अवलोकन करनेसे अभिमान बढ़ता है। इसलिये अपनेमें जितने दोष हों, सबको आत्मनिरीक्षणके द्वारा ढूंढ़ निकालो और उनमेंसे मुख्य मुख्यको चुन लो। जो मनुष्य अपना एकाध दोष भी जानता है वह मिथ्याभिमानी नहीं। वह सदा नम्र स्वभावका रहता है। वह भी "वाएज़ीद" नामक प्रसिद्ध फ़कीरकी तरह कहना सीख लेगा कि—"एक रेतीके कणसे पूछनेपर भी वह कहेगा कि वाएज़ीद, मुझसे किसी भी तरहतू बढ़ नहीं सकता।

एक समय एक साधु राजमार्गसे होकर कहीं जा रहा था रास्तेमें पासहीके घरकी खिड़कीसे उसके सिरपर कोयले और राख गिरी। यह देख उसके साथी क्रोधित हो, राख डालनेवाले-को मारनेके लिये तय्यार हुए। यह देख उस यतिने उन्हें रोका और कहा—"अरे ! तुम यह क्या करते हो ? जिस मनुष्य-पर जलते हुए अङ्गारे पड़ने चाहियें, उसपर यदि केवल ठण्ढी राख ही पड़ी तो वह मनुष्य भी कैसा भाग्यशाली है ?"

आत्मनिरीक्षणसे इस महात्माके समान ही नम्र स्वभावके होना चाहिये। अपने दोषोंकी एक सूची बना लो और उनको स्मरण रक्खो, जिससे मिथ्याभिमानको स्थान ही न मिले।

२ - मदसे होनेवाले दुष्परिणामोंका चिन्तन करनेसे भी मद रुक जायगा। मदमेंसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका वर्ण्न करते हुए महाभारतमें सनत्सुजात धृतराष्ट्रसे कहते हैं—"मदसे ही मनुष्यमें तिरस्कार करना, दूसरेको दुःख देना, दूसरेके दोष ढूंढ़ना, असत्य बोलना, काम, क्रोध, परतन्त्रता, कुटिलता, द्रव्यनाश, व्यर्थ विवाद, अत्याचार, प्रपंच, कटुभाषण, बुद्धिनाश, उद्वेग आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं।"

बुद्धिमान् मनुष्य कभी अहंकार नहीं करते। क्योंकि इन अठारह दोषोंके पंजेमें फँसे हुए मनुष्योंमें मनुष्यत्व कैसे रह सकता है? इन मिथ्याभिमानी मनुष्योंसे ज्यादा और कौन दयाका पात्र हो सकता है? कोई नहीं। क्योंकि जो ऐसा मानते हैं कि मैं ऊँचा चढ़ रहा हूं, वह अवश्य ही नीचे गिरता है।

शीघ्र ही या कुछ समय पश्चात् मदसे अवश्य अवनति होती है और मिथ्याभिमान भंग हुए बिना नहीं रह सकता। जीसस क्राइस्टने कहा है कि—"जो लोग नम्रताको अपने समीप रखते हैं वे ही सच्चे सुखी हैं, क्योंकि, ईश्वरके दरबारमें नम्र मनुष्योंके सिवाय अन्य किसीको बैठनेका अधिकार नहीं है।"

एक बंगाली काव्यमें भी कहा है कि :—"जो अहंकारसे

सने हुए हैं वे मुझे (ईश्वरको) कभी नहीं देख सकते। और यह तो निर्विवाद है कि मैं नम्र मनुष्योंका मित्र हूं।"

एक मुसलमान भक्त कहता था कि :—"जब ईश्वर मेरे हृदयमें आते हैं, तब मेरा अहंकार निकल जाता है, और जब अहंकारका प्रवेश होता है तब ईश्वर बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकारका नियम बत्तीस वर्षसे बराबर देख रहा हूं। ज्यों ज्यों मैं ईश्वरको ज़ोर ज़ोरसे बुलाता हूं, त्यों त्यों वे मुझे और भी ज़ोरसे उत्तर देते हैं कि हमारे दोनोंके लिये स्थान नहीं, हम दोनोंमेंसे एकको बाहर निकलना ही पड़ेगा, या तो तू नहीं, या मैं नहीं।"

जहाँतक अहंभावका नाश न हो जाय, वहाँतक स्वर्गका द्वार बन्द समझना चाहिए। स्वर्गारोहण करते समय पाण्डवोंका दृष्टान्त इस बातको साक्षी देता है। पांचों पाण्डव स्वर्गकी ओर चले जा रहे थे, इतनेमें सहदेव एकाएक गिर पड़ा। यह देख भीमसेनने युधिष्ठिरसे उसके देहके गिरनेका कारण पूछा। युधिष्ठिरने कहा—"सहदेव यह समझता था कि मेरे समान बुद्धिमान् कोई नहीं है। इसीसे उसका पतन हुआ।"

सहदेवको छोड़कर चारों भाई आगे चले। इतनेमें नकुल भी गिरा। भीमने फिर उसके गिरनेका कारण पूछा। युधिष्ठिरने कहा :—"इसको अपने रूपका बहुत अभिमान था। चलो आगे बढ़ते जाओ।" इतनेमें ही अर्जुन भी धराशायी हुआ। भीमने फिर कारण पूछा, युधिष्ठिरने कहा—"अर्जुनको अपने

पराक्रमका इतना अभिमान था कि, वह अपने आगे सबको तुच्छ समझता था। लेकिन वास्तवमें ऐसा न था। वह अपनेको सब बलधारियोंमें श्रेष्ठ समझता था, यही उसके पतनका कारण हुआ। इसलिए जो मनुष्य अपना श्रेय चाहता हो उसे अहंकार न करना चाहिये।"

कुछ समय पश्चात् भीम भी पृथ्वीपर गिरे और अपने गिरनेका कारण पूछा। युधिष्ठिरने कहा :—"तुझे अपने बलका बड़ा अभिमान था जिसके कारण तू अपने आगे सबको तुच्छ समझता था। इसीसे तू भी गिरा।

अहंकारसे मनुष्यका पतन होता है। यह स्वाभाविक है। क्योंकि अहंकार सब कल्याणकर गुणोंका नाशक है।

३—बहुत बार हम जिसके दोष निकालते हैं उसीमें ऐसे कितने ही गुण मिल जाते हैं जिनका हमारे हृदयमें नामो-निशान तक नहीं है। उनको देखकर हमारा गर्व और बड़प्पन न मालूम किधर उड़ जाता है। हमें लज्जासे नीचे झुकना पड़ता हैं। कभी कभी ऐसा भी हो जाता है कि, जिस मनुष्यकी ओर कभी हम आँख उठाकर भी नहीं देखते थे, समय पाकर वह भी ऐसा पराक्रमी होता है कि उसके पैरोंके पास बैठनेमें भी हम अपना सौभाग्य समझते हैं। इस दुनियामें कौन किससे कम है? जो गुण हममें होता है, वह दूसरेमें नहीं होता, और जो दूसरेमें होता है उसका हममें अभाव रहता है। प्रत्येक मनुष्य किसी किसी विषयमें हमसे चढ़ा बढ़ा होता ही है, चाहे फिर

वह दूसरे विषयमें हमसे कम ही क्यों न हो। किसी भी मनुष्यको अपनेसे नीचे दर्जेका कहनेका अधिकार ईश्वरने नहीं दिया है।

कई बार दूसरे मनुष्योंके कार्य्योंका पूर्ण रीतिसे अवलोकन किये बिना ही हम उनके दोष निकाल बैठते हैं, यह बहुत बुरा है। क्योंकि जब वास्तविक सत्य बात प्रकट होती है, तब हमारी चतुराईकी कैसी हँसी होती है? हमपर दूरसे कोई मनुष्य चोट मारकर आवे और उससे ही हम यह कल्पना कर लें कि, यह मनुष्य हत्यारा है, और किसीका खून करता है" तो यह कल्पना अशुद्ध है। बहुत बार ऐसा होता है कि, वह मनुष्य उस समय अपनी जातिको बचानेका प्रयत्न कर रहा हो, अथवा किसी स्त्रीपर बलात्कार करते हुए नरपिशाचको दण्ड देनेके लिये प्रयत्न कर रहा हो। इससे यह सिद्ध हुआ कि, किसी भी मनुष्यके चरित्रकी पूर्ण रीतिसे परीक्षा किये बिना, उसके विषयमें किसी भी प्रकारकी भली या बुरी कल्पना करना न्याय-संगत नहीं। ऐसा करनेका हमें बिलकुल अधिकार नहीं। और प्रत्येक विषयमें जबतक उसका सम्पूर्ण अवलोकन न कर लिया जाय, यह कहना बड़ा कठिन है कि कौन किससे उत्तम और कौन किससे निकृष्ट है।

तापसमालामें एक बहुत उत्तम दृष्टान्त है, जो इस सिद्धान्तको दृढ़ करता है—

बसरेका "हुसेन" नामक फ़कीर दजला नदीके तीरपर

फिरता था। इतनेमें नदीके मध्य एक नौका उसके दृष्टिगोचर हुई। उसपर उसने एक हवशीको एक बोतलमेंसे कुछ वस्तु पीते हुए देखा और उसके एक ओर बैठी हुई स्त्री भी दृष्टिगोचर हुई। इससे उसने अनुमान किया कि, यह मनुष्य किसी वेश्याकी संगतिमें बैठा हुआ शराब पी रहा है। ऐसी कल्पना कर वह फ़कीर अपने मनमें फूला, और विचार करने लगा कि, "और किसीसे नहीं, तोभी इस मनुष्यकी अपेक्षा तो मैं उत्कृष्ट श्रेणीका ही हूँ। क्योंकि मैं कभी किसी स्त्रीके साथ शराब नहीं पीता।" इधर तो यह विचार उसके हृदयमें उत्पन्न हो रहा था इतनेमें उधर वायुकी तेजीसे एक दूसरी नौका उलट गई। वह मनुष्य (जो नौकामें बैठा था) देखते ही एकदम नदीमें कूद पड़ा और छः डूबते हुए खलासियोंको बचा लाया। यह देख उस फ़कीरको बड़ा ही आश्चर्य्य हुआ और वह सीधा उस मनुष्यके समीप गया। उसके साथ बातचीत करनेपर हुसेनको विदित हुआ कि, वह औरत (जो उसके साथमें थी) उसकी माँ थी। और उस शीशीमें केवल पानी था। फिर वह आदमी कहने लगा कि :—"मैं तुम्हारी ओर देख रहा था कि, तुम्हारे नेत्र हैं या नहीं। पर मुझे विदित हुआ कि तुम नेत्रहीन हो।"

यह सुन हुसेन उसके पैरोंपर गिर पड़ा और कहने लगा कि—"भाई! मुझे क्षमा करो। जैसे तुमने नदीमें बहते हुए छः खलासियोंको बचाया है, उसी प्रकार मुझको भी अभिमानमें डूबनेसे बचाओ।"

उसके पश्चात् हुसेनने सारे जीवन पर्यंत अपनेको किसीसे भी बड़ा न समझा।

एक समय एक मनुष्यने एक कुत्तेकी ओर संकेत कर हुसेनसे पूछा—"तुम दोनोंमें कौन उत्कृष्ट है?" हुसेनने कहा—"जहाँतक मैं अपने जीवनको पुण्यमय बनाकर व्यतीत कर रहा हूँ वहाँतक मैं इससे उच्च हूँ। और उसके पश्चात्—पापमय जीवन व्यतीत करनेके समय वह कुत्ता मेरे समान सौ हुसेनोंसे भी श्रेयस्कर है।"

क्या कोई भी मनुष्य ऐसा कहनेका साहस कर सकता है कि, "मैंने अपने जीवनको बिलकुल निष्पाप व्यतीत किया है?"

४—दुनियाके साथ अपने सम्बन्ध और उसके आगे अपने उत्तरदायित्वका और अपने कर्त्तव्यका विचार करो। इससे अवश्य तुम्हें तुम्हारे दोषोंका ज्ञान होगा। क्योंकि तब हम स्वयं ही कहने लगेंगे कि, "मैं बड़ा ही अयोग्य और निर्बल हूं।" इस प्रकारकी मनोभावना हमें अहंकारपर विजय प्राप्त करनेमें सहायक होगी। हमारे कर्त्तव्यका क्षेत्र कितना फैला हुआ है? हमारे शरीर और मनकी ओरके कर्त्तव्योंका हमें पालन करना है और उनके लिये कितने अधिक गुणोंके सम्पादन करनेकी आवश्यकता है? इस प्रकारके विचार करनेसे तुम्हारा मन ठिकाने आ जायगा और अहंकार तो न मालूम किधर उड़ जायगा। संसारके बहुतसे महापुरुष बुद्धिमत्ता और उदारतासे भरे पूरे होनेपर भी, अपने जीवनके कर्त्तव्योंका पालन करनेमें

बहुत असफल हुए हैं। क्योंकि उनकी दृष्टिमें तो बहुतसे कार्य्य बिना पूर्ण किये ही रह गये हैं। तो फिर ऐसे मनुष्योंके सम्मुख जो बिलकुल तुच्छ है उनको अपनी अल्प बुद्धि और थोड़े गुणोंके लिये अभिमान करना कितना हास्यास्पद है ?

कदाचित् यह भी कल्पना कर ली जाय कि, हम अपने कर्त्त-व्योंका पालन सुचारु रूपसे कर रहे हैं, तोभी उसमें अहंकारकी बात ही क्या है? अपने कर्त्तव्यका पालन करनेमें अभि-मान करनेका विषय ही क्या है? जो हम अपने कर्त्तव्योंपर ठोकर मारेंगे तो उसकी सज़ा हमें अवश्य मिलेगी। पिता अपने पुत्रोंका पालन करे, और पुत्र अपने मातापिताकी सेवा करे, पत्नी अपने पतिकी सेवामें आनन्द माने तो इसमें अभिमान करनेकी बात ही क्या है? जहांतक अपने कर्त्तव्यसे बाहर हम कोई कार्य्य नहीं करते, वहांतक अभिमान करनेका मार्ग ही नहीं है। परन्तु यदि हम अपने कर्त्तव्योंका पालन करनेमें पीछे पैर रक्खेंगे, तो हमें पश्चात्ताप करना होगा। अपनी शक्तियोंका उचित उपयोग करनेमें अभिमान करनेकी जरूरत नहीं। पर उनका दुरुपयोग करनेमें सजा होना स्वाभाविक ही है। भूत-कालिक जीवनका विचार करनेसे भी मदका नाश होगा। क्योंकि ऐसे आदमी अङ्गुलियोंपर गिने जाने योग्य ही मिलेंगे, जिनके जीवनमें कोई भी ऐसी घटना न हुई हो, जो लज्जासे उन्हें न झुका दे।

५—जिन जिन पदार्थोंका हमें अभिमान है, उनकी क्षण-

भंगुरतापर विचार करो। वे सब पदार्थ हमारी मृत्युके साथ ही हमारा साथ छोड़ देंगे। अरे! उनमेंसे बहुतेरे तो ऐसे हैं जो हमारी मृत्यु होने तक भी नहीं ठहरेंगे। क्या हम बहुत बार ऐसा नहीं देखते कि भाग्यके पलटा खाते ही पैसा, रुपया, बुद्धि, इज़्ज़त, मान, आदि सब देखते देखते शरद्कालके मेघकी तरह छिन्न भिन्न हो जाते हैं। नेपोलियन बोनापार्टके समान सत्ता किसे प्राप्त हुई? तोभी उसे एक कैदीकी तरह अपना जीवन त्याग करना पड़ा। कार्डिनल वूलसीके समान अधिकारका घमण्ड और किसे था? तोभी किस प्रकार उसका मद्गंजन हुआ? विद्वत्ता और बुद्धिमत्तामें आगस्ट केस्टीनासे कौन बढ़-कर था? तोभी जब वह पागल हो गया तब उसकी बुद्धिमत्ता कहां जाती रही? इससे सहज ही विदित होगा कि, धन, यौवन, रूप, आदि वस्तुएं कैसी चंचल हैं? उनपर घमण्ड करना व्यर्थ है।

६—हमें अपने गुणोंका वर्णन कभी नहीं सुनना चाहिये। क्योंकि, अपने गुणोंकी बड़ाई सुननेसे हम विशेष फूलते हैं। इससे विपरीत—अर्थात् अपने दोषोंका श्रवण करनेसे—उनको स्वीकार करनेसे बहुत लाभ होता है। अपने अभिमानको दो मित्रोंके पास नम्रतापूर्वक स्वीकार करो। और उसके लिए शिक्षा ग्रहण करो। ऐसा करनेसे गर्व शनैः शनैः नष्ट हो जायगा। एक समय एक मुसलमान भक्त बाएज़ीद नामक एक फ़कीरके पास आया। उसने पूछा—"बत्तीस वर्षसे मैंने रमजानके

रोज़े रखे हैं और रात रातभर जागरण करके खुदाकी बंदगी की है, तोभी मुझे खुदाका ज्ञान क्यों नहीं होता?" यह सुन बाएज़ीदने कहा :—"यदि तू इसी तरह तीन सौ वर्षतक भी करे तोभी तू ऐसाका ऐसा ही रहेगा।"

उसने पूछा—"कैसे?"

बाएज़ीद—क्योंकि, तुमने अपना जीवन एक परदेके पीछे छिपाया है।"

भक्त—"तो अब मुझे क्या करना चाहिए?"

बाएज़ीद—"जा! तू अपना सिर बिलकुल मुंडवा डाल। शरीरको सजानेवाली तमाम वस्तुओंका त्याग कर दे। और केवल एक कम्बल ओढ़ और फिर शहरके जिस मुहल्लेमें सब तुझे खूब पहचानते हों, वहां जा, और थोड़ेसे खिलौने ले जा। यदि छोटे छोटे लड़के तेरी हंसी कर तुझे मारने लगें, तोभी तू कुछ मत बोल। बल्कि और भी उन्हें खिलौने देता जा। इस प्रकार धक्के खाते खाते सारे शहरमें घूम और जिस स्थानपर तेरा सबसे ज्यादा अपमान हो वहीं रहनेकी ठान कर रह। इस प्रकार करनेसे तेरा हित होगा।" घमण्डको तोड़नेका इसकी अपेक्षा कोई दूसरा उपाय नहीं है। क्योंकि, जो मनुष्य हमारे गुणोंकी बड़ाई करते हों, उनके सम्मुख हमें अपनी त्रुटियां प्रकाशित करनेसे, तथा पहिले जो मान और भक्ति करते हों, उनकी ओरसे अपमानित और तिरस्कृत होनेसे शीघ्र ही गर्वगंजन हो जाता है। कितनी ही बार अपनी त्रुटियोंको स्वीकार करनेमें

भी गर्व हो जाता है। क्योंकि, उससे ऐसा विचार आता है कि, "मैंने अपने सब दोष स्वीकार किये हैं।" जब जब ऐसा भाव उत्पन्न हो, तब तब अपनी भूल स्वीकार करनी चाहिये। इस प्रकार प्रयत्न करनेसे गर्वका नाश हो जायगा।

इन खास उपायोंके सिवाय ऊपर कहे हुए सामान्य उपायोंको भी, मदपर विजय प्राप्त करनेके समय स्मरण रखना चाहिए।

दसवां अध्याय।
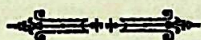
भक्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्न और उनके नाशके उपाय

(ईर्षा)

(६)
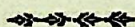
१—ईर्षाका सर्वोत्तम उपाय प्रेम है। क्योंकि, जिस मनुष्यको हम सच्चे प्रेमसे चाहते हैं, उसके प्रति ईर्षाका होना असंभव है। इसलिये जिस मनुष्यके प्रति हमारी ईर्षा हो, उसके गुणोंका मनन करना चाहिये जिससे उसपर हमारा प्रेम हो। ज्यों ज्यों प्रेमका क्षेत्र फैलता जायगा, त्यों त्यों ईर्षा कम होगी।

२—संकुचित हृदयमें ही ईर्षाका वास है। जिस मनुष्यके हृदयमें ऐसे विचार आते हैं कि, "अमुक मनुष्यको इस संसारके सब सुख, वैभव, धन, कीर्ति आदि प्राप्त हैं" उसी मनुष्यके हृदयमें ईर्षा आती है। परन्तु जिस मनुष्यकी दृष्टि उदार है और जो समझता है कि, आभ्यन्तर और बाह्य सृष्टिमें सुख, वैभव, और कीर्ति सम्पादन करनेके अनेक साधन हैं और किसी न किसी कार्य्यमें प्रसिद्धि पानेकी योग्यता प्रत्येक मनुष्यमें है उसके हृदयमें ईर्षा कभी नहीं आ सकती।

ज्यों ज्यों प्रेमकी व्यापकता बढ़ती जाती है त्यों त्यों ईर्षा घटती जाती है।

३—ईर्षाके साथ ही साथ निन्दा करनेकी आदत पड़ जाती है। हृदयमें ज्यों ज्यों ईर्षा बढ़ती जाती है, त्यों त्यों जिह्वाको पर-निन्दा करनेमें अधिक आनन्द मिलता है। इसलिये ज्यों ज्यों निन्दा करनेकी आदत घटती जायगी त्यों त्यों ईर्षाका ह्रास होता जायगा। इस कार्य्यको सिद्ध करनेके लिये दो कार्य्य विशेष-तया सहायक होते हैं। प्रथम, अपनी त्रुटियों और दुर्गुणोंको कभी न भूलना चाहिये। क्योंकि जो मनुष्य अपने दोष जानता है वह किस मुंहसे दूसरोंके दोष निकाल सकता है? द्वितीय साधन यह है कि, "मनुष्य-चरित्रके उत्तम भागपर ही दृष्टि रखनी चाहिये। बुरे भागपर कभी आंख भी न उठानी चाहिये। बुरे भागपर दृष्टि देनेवाले मनुष्योंकी संगति भी न करनी चाहिए। ऐसे मनुष्योंसे मैत्री करनी चाहिये जो अपने पड़ोसियोंके गुणोंका उदार हृदयसे आदर करते हों। दुष्टसे दुष्ट मनुष्यके भी गुणोंपर ध्यान रखना चाहिये। अपनी वृत्तिको गुणग्राहक बना लेनेपर मालूम होगा कि, दूसरेके गुणोंका अवलोकन करनेसे कितना आनन्द प्राप्त होता है।

४—जिस समय किसी मनुष्यकी निन्दा करनेके लिये किसी विशेष कारणसे तुम्हारा हृदय प्रेरित हो रहा हो, उस समय उस मनुष्यमें जो कुछ थोड़े बहुत गुण हों उनका स्मरण कर योग्य और प्रामाणिक रीतिसे उसकी प्रशंसा करनी चाहिए।

इस प्रकार अभ्यास करनेसे निन्दा करनेकी वृत्ति धीरे धीरे कम हो जायगी। इतना ही नहीं, बल्कि, योग्य मनुष्यके गुणोंका आदर करनेसे दुर्लभ आनन्द प्राप्त होगा।

५—पवित्र और शुद्ध चरित्र होनेके लिये जो अपने अन्तः-करणसे यत्न करता है, उसको कभी दूसरेके प्रति ईर्षा नहीं हो सकती। क्योंकि जो कुछ अच्छा होता है उसकी स्पर्धा करनेसे प्रकृतिके कार्य्योंका समर्थन होता है, परन्तु ईर्षासे उसमें विघ्न आता है। जिस मनुष्यको सच्चे दिलसे उन्नति करनेकी इच्छा है उसे तो अपने चरित्रमें जहां तहांसे सद्गुण ढूंढ़ ढूंढ़कर बढ़ाने चाहिये। इससे उसकी दृष्टिको दूसरेके दोष अवलोकन करनेके लिये समय ही नहीं मिलता।

दूसरेके दोषोंको देखनेवाले मनुष्य दूसरेका बुरा करनेमें ही लगे रहते हैं जिससे उन्हें अपना भला करनेका अवसर ही नहीं मिलता। सज्जन मनुष्यके गुणोंका अनुकरण करनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है और ईर्षा करनेसे सदा अवनति ही होती है। ऐसे मनुष्यमें जो जो उच्च वृत्तियां होती हैं उनका भी नाश हो जाता है।

६—ईर्षाके परिणाम भी बहुत बुरे होते हैं। ईर्षालु मनुष्यके मनकी स्थिति बहुत दयनीय होती है। जिस वस्तुसे मनुष्यको आनन्द मिलता है उसीको देखने और जाननेसे उसे बड़ा ही उद्वेग होता है। ऐसा कौन भाग्यहीन मनुष्य होगा जिसे किसी मनुष्यकी सुन्दरता, सुख, शौर्य्य आदि गुण देखकर आनन्द न

हो ! पर शोक, कि ईर्षालुको तो वे सब वस्तुएं दुखकी ही देनेवाली होती हैं। जिसे देखकर प्रत्येक मनुष्यका अन्तःकरण पुलकित हो उठता है, उसीसे ईर्षालुके हृदयमें आग भभक उठती है। जिस मनुष्यको अमृत विषके समान, स्वर्ग नरकके समान, और शरद्-पूर्णिमाकी चन्द्रिका अमावस्याके घोर अन्धकारके समान प्रतीत होती है उस मनुष्यकी दुःखमय स्थितिका अनुमान भी कौन कर सकता है ? जिस महापुरुषके गुणोंका चिन्तन करनेमें हो हजारों आत्माएं अपना अहोभाग्य समझती हैं उसीके गुणोंका श्रवण करनेसे ईर्षालुका हृदय छिद जाता है। ऐसे मनुष्योंसे अधिक मन्दभाग्य इस सृष्टिमें और कौन होगा ?

जिस मनुष्यका अमूल्य समय दूसरेके दोषोंको ढूंढ़नेमें ही व्यतीत होता है, जो मनुष्य हर किसीके ऊँचे चरित्रमें भी अपूर्णताको ही ढूंढ़ा करता है, उस मनुष्यके दुःखोंका विचार करनेसे ही हृदय कांप उठता है, क्योंकि उस मनुष्यको सहृदयसे सहृदय मित्रमें भी दोष ही दोष दृष्टिगत होते हैं। जितना असर शरीरपर विषका होता है, उतना ही मनपर ईर्षाका। ईर्षालु मन सदा जलता रहता है, ईर्षावान् मनुष्यका शरीर तन्दुरुस्त नहीं रहता। उसका मस्तिष्क खोखला हो जाता है और मन निर्बल पड़ जाता है। उसको अपने कार्य्य करनेकी इच्छा नहीं होती और आनन्द शीघ्र ही नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। बहुतसे झगड़ोंका मूल ईर्षा है। इसी ईर्षाने पारस्परिक द्वेष फैलाकर कितने ही प्राणियोंका नाश किया है।

६—लार्ड बेकनने कहा है कि,—"जिस मनुष्यमें अपने कुछ भी गुण नहीं होते, वह मनुष्य दूसरेके गुणोंको देख, ईर्षा करता है। क्योंकि मनुष्यके मनका स्वभाव ही यह है कि, वह अपने गुणोंपर, और दूसरोंके दोषोंपर दृष्टि रखता है और जब हममें गुण नहीं हैं तो वह आप ही आप दूसरेके दोषोंकी ओर झुकेगा। दूसरेके गुणोंको सम्पादन करनेकी जिस मनुष्यमें शक्ति नहीं, वही मनुष्य दूसरेके गुणोंको छिपाकर उसकी समानता करना चाहता है।"

बेकनके ये शब्द हमेशा स्मरण रखने चाहिये। क्योंकि ये शब्द प्रत्येक ईर्षालु मनुष्यको लज्जित कर देनेवाले हैं।

"नीच और निर्बल अन्तःकरणमें ही ईर्षाका वास है" इस बातको सदा हृदयमें रखनेसे, ईर्षाके फंदेमें पड़नेसे बच जाओगे।

ग्यारहवां अध्याय

भक्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्न और उनके नाशके उपाय
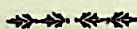
(उच्छृंखलता या चपलता)

(७)

जब मनुष्यका मन पूर्णरूपसे वशमें नहीं होता तब उच्छृङ्खलता दोषकी उत्पत्ति होती है और ज्यों ज्यों मन अधिकाधिक अपने वशमें होता जाता है, त्यों त्यों यह दुर्गुण दूर होता जाता है। मनका ठीक तरहसे वशमें होना तभी हो सकता है जब कि वह प्रतिदिनके नियत कार्य्य यथोचित रूपसे करता जाय। केवल आवेशमें आकर काम करने और विचार-पूर्वक कार्य्य न करनेसे ही यह दुर्गुण और बढ़ जाता है। प्रतिदिन किसी भी कार्य्यको निश्चित कर उसीमें लग जाना चाहिये।

हरएक कार्य्यके लिये एक समय नियत कर दो, और उस समयमें वही कार्य्य करो। यदि किसी कार्य्यके करनेका समय ८ बजे नियत किया है, तो ७ बजे संगीत, कीर्त्तन आदि कोई ऐसा कार्य्य जिसमें एक घंटेसे अधिक समय व्यतीत होता हो

मत करो। यदि वह भगवान्के कीर्तनके समान पवित्र कार्य्य हो, तो भी ८ बजे किये जानेवाले कार्य्यको मत भूल जाओ, क्योंकि, ऐसी आदतोंसे उच्छृङ्खलता बढ़ती है। ईश्वर-भजनमें लीन होकर अपने कर्त्तव्योंको कभी भूलना न चाहिये। शायद कोई तर्क करे कि, ईश्वर-भजन सबसे उत्तम कार्य्य है, उसमें लगकर दूसरा कार्य भूल जाना क्या बुरा है? ऐसे तार्किकोंसे मैं केवल इतना ही पूछता हूं कि "क्या प्रत्येक कार्य्य ईश्वर-भजनका ही दूसरा नाम नहीं है?"

कर्तव्य-पालनकी अपेक्षा ईश्वर-भजनका कार्य्य कभी अधिक उत्तम नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर-भजनसे केवल हमारे हृदय प्रफुल्लित होकर जोशसे भर जाते हैं, जिससे हम कार्य्य करनेमें समर्थ हो जाते हैं। हां, यह तर्क उन लोगोंपर नहीं लग सकता, जिनका कार्य्य ही ईश्वर-भजन है।

इस स्थानपर हम एक सच्ची घटनाका उल्लेख करते हैं इससे पाठकोंको यह बात स्पष्टरूपसे समझमें आ जायगी।

एक भक्त पुरुष एक महात्माके पास मिलने गया। उसने किसी आध्यात्मिक विषयपर बात करना प्रारंभ किया। बातचीत करते करते संध्या हो गई तो भी बातें समाप्त न हुईं। उनकी इच्छा थी कि, रातभर जबतक यह बात पूर्ण न हो जाय— वार्तालाप करते रहें, पर उस भक्त गृहस्थको किसी आवश्यक कार्य्यपर जाना था। उसने बीचमें ही जानेकी आज्ञा मांगी। दोनों ही इस वार्तालापको छोड़ना न चाहते थे तो भी उस साधुने

आज्ञा देते हुए कहा कि, "मुझे बहुत ही आश्चर्य्य और आनन्द होता है कि, तुम अपने कर्तव्य-पालनके लिये इस वार्तालापके अतुल आनन्दको छोड़कर जाते हो।"

इसी प्रकार प्रतिदिनका कार्य्यक्रम निश्चित कर उसके अनुसार चलनेके विषयमें बेन्जामिन फ्रेंकलिनका दृष्टान्त भी अनुकरणीय है। इसने अपने नित्यके कार्य्यक्रमका अपनी जीवनीमें उल्लेख किया है। जो बहुत ही ज्ञानप्रद है।

फ्रेंकलिनकी दैनिक कार्य-प्रणाली।

प्रातःकाल—

प्रश्न—आज मैं क्या उत्तम काम करूं ?	५	विस्तरसे उठना।
	६	नित्यःके कार्य समाप्त करना, ईश्वरकी उपासना।
	७	कार्य नियत करना, स्वाध्याय, प्रातःका भोजन।
	८ ९ १० ११	कार्य
मध्यान्ह	१२ १	स्वाध्याय, आय व्ययका हिसाब जांचना। दोपहरका भोजन।
तीसरा पहर	२ ३ ४ ५	कार्य

	६	सब वस्तुएं अपने २ स्थान-पर रखना,
सायंकाल	७	सायंकालका भोजन, गाना, बजाना,
	८	आमोद् प्रमोद, वार्त्तालाप,
	९	मनके कर्त्तव्योंपर अपनी अपने आप जाँच।
रात्रि	[१०—४]	निद्रा

हममेंसे प्रत्येकको अपनी सुविधाके अनुसार अपने नित्यका कार्य्यक्रम निश्चित करना चाहिये और उसीके अनुसार बिलकुल नियमित रीतिसे, उसमें लगकर, उसे पूरा करना चाहिये।

२—भक्तिके लिये जिन जिन गुणोंकी आवश्यकता है, उच्छृङ्खलता उन उन गुणोंके मार्गमें बाधक है। इस बुरे अभ्यासके दास होकर ही हम प्रतिदिन, आत्मनिरीक्षण भी नहीं करते कि अमुक सद्गुणको सम्पादन करनेमें हम कितने सफल हुए हैं। बेन्जामिन फ्रेंकलिनने सद्गुणोंकी एक सूची बनाई थी। अमुक सद्गुणमें वह कितना आगे बढ़ा है, यह जाननेके लिये उसने एक अत्युत्तम युक्ति ढूंढ़ निकाली थी। उस युक्तिका प्रत्येक मनुष्यको अनुकरण करना चाहिये। उसने कुछ एक सद्गुणोंको एक कोष्ठकमें लिखा, प्रत्येक गुणके अभ्यासके लिये उसने एक एक सप्ताह नियत किया। उस सप्ताहमें मुख्यरूपसे वह अपने ध्यानको उसी सद्गुणकी ओर लगा देता था, वह दूसरे गुणोंकी भी उपेक्षा न करता था।

उसने एक छोटीसी नोटबुक् अपने पास रखी और प्रत्येक सद्गुणके लिये एक पृष्ठ नियत किया। उसमें वह नीचे लिखे प्रकारसे कोष्ठक बनाकर उनमें गुणोंका नाम लिखता था। और सामनेके सातों कोष्ठोंमें वारोंके नाम लिखता था। जिस दिन किसी गुणके पालनमें त्रुटि हो जाती थी, तब उस दिनके कोष्ठकमें वह एक (×) चिह्न कर देता था। (देखो चित्र पृष्ठ १३७)

३—निरंकुश जीवन व्यतीत करनेसे उच्छृङ्खलता बढ़ती है। जिसपर कोई शासक नहीं वह बहुत उच्छृङ्खल हो जाता है। सदा ऐसे पुरुषकी सलाहपर चलना चाहिए, जिसपर अपना दृढ़ विश्वास हो, जो सचमुच उच्च कोटिका हो। जिस प्रकार सेनामें नायककी आज्ञाके वश होकर सिपाही अपना काम करता है, और थोड़ासा भी उसका उलटफेर नहीं करता, उसी प्रकार हमें भी किसी श्रेष्ठ पुरुषके अधीन होकर उसीकी आज्ञाके अनुसार काम करना चाहिये, इस प्रकार उच्छृङ्खलता न्यून हो जायगी। स्वेच्छाचारका दमन बड़ा आवश्यक है।

४—किसी पदार्थपर दृष्टि (त्राटक साधन) बांधनेका अभ्यास करना चाहिये। किसी भी एक बिन्दुपर बिना पलक मारे हुए जबतक दृष्टि न थक जाय देखे और प्राणायाम करे। इस अभ्याससे मनकी एकाग्रता बढ़ती है। इससे सब उच्छृङ्खलता नष्ट हो जाती है।

५—जैसे यह सौर जगत् किस प्रकार विधाताके बनाये नियमोंपर सुव्यवस्थासे चल रहा है इसका विचार करनेसे

फ्रैंकलिनका आत्मनिरीक्षण ।

नाम गुण	रवि	सोम	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
परिमित आहार							
वाक्-संयम	×	×		×	×		
सुव्यवस्था	×	×			×	×	
कर्त्तव्य-पालनकी दृढ़ प्रतिज्ञा —		×				×	
मितव्ययिता						×	
परिश्रम और समयका सद्व्यय			×				
कपटका न होना							
न्यायपरायणता							
स्थिरता और तितिक्षा							
इन्द्रिय-दमन							
विनय							

जीवन नियमित हो जाता है। हमारे बाह्य जगत्‌में सब काम कैसे व्यवस्थित रूपसे चल रहा है, सूर्य्य नियत समयपर उदित होता और नियत समयपर अस्त होता है। चन्द्रमा भी अपनी वृद्धि क्षयकी सोलह कलाओंपर नियमसे घटता बढ़ता है और ग्रह नक्षत्र आदि भी:अपनी कक्षामें जिसको जितना जैसे जाना होता है वह उतना वैसे ही गति करता है। गरमी, वर्षा, सरदी, जाड़ा, पतझड़, वसन्त, सब एक नियमसे कक्षामें घूम रहे हैं, अग्नि अपने नियमसे ताप देती है, वायु नियमसे बहती है, तो फिर, हम अपने जीवनको किसी विशेष नियमसे क्यों न रक्खें ? क्या हम बिना मस्तूलके जहाजकी तरह अपने जीवनको अनियमित रूपसे व्यतीत करें ?

जिन मनुष्योंने ब्रह्माण्डको ऐसी सुन्दर व्यवस्थामें चलते देखा और उस व्यवस्थाका आदर करके अपने जीवनको भी व्यवस्थामें रखा, वे सदा भाग्यवान् थे। वे जितने कालतक भी जीये उतने ही आनन्दमें रहे, और इसके विपरीत जो मनुष्य इन नियमोंका उल्लंघन कर, समुद्रमें उतराते हुए काठकी तरह जीवनको उच्छृंखल कर देते हैं वे भाग्यहीन जबतक जीते हैं उन्हें शोक और पश्चात्तापके सिवा कुछ भी प्राप्त नहीं होता। वे भविष्यको अन्धकारमय देखकर निराश हो जाते हैं। हमें चाहिये कि उच्छृंखलता त्यागकर, जीवनको सार्थक करनेमें यत्नशील हों।

बारहवाँ अध्याय।

भक्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्न और उनके नाशके उपाय।
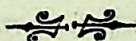
(सांसारिक चिन्ता)

(८)

जिनके चित्त सांसारिक दुश्चिन्ताओंसे व्याकुल होते हैं, उनका भक्तिके मार्गमें अग्रसर होना बहुत कठिन है। इसलिये मनुष्यको इन दुश्चिन्ताओंसे मुक्त होनेकी बहुत आवश्यकता है।

१—सांसारिक चिन्ताओंमें प्रायः बहुतसी चिन्ताएं, अपनी आवश्यकताओंको बढ़ा लेनेसे और उनकी पूर्ति न होनेपर लोक-निन्दाके डरसे होती हैं। पहले कहा जा चुका है कि, मनुष्यकी आवश्यकताएं बहुत कम होती हैं। नई नई आवश्यकताएं पैदा कर लेनेसे मनुष्यको बहुत क्लेश होता है। और कितनी ही बार तो उसकी अधोगति भी हो जाती है। हम बहुत बार इस बातको भूल जाते हैं कि, "जिनके बिना हमारा व्यवहार नहीं चल सकता ऐसी आवश्यकताएं मनुष्यको बहुत कम हैं।"

"अमुक वस्तुके बिना दुनियांका व्यवहार कैसे चलेगा ?" "अमुक वस्तुके बिना मैं बाहर किस प्रकार जाऊँ ?" इत्यादि

इस प्रकारकी चिन्ताओंसे हमारे जीवनका बहुमूल्य समय व्यर्थ चला जाता है। इसकी अपेक्षा तो जो मनुष्य समयका विचार किये विना ही, अपनी सब चिन्ताओंको ईश्वरके सुपुर्द कर, प्रातःकालसे सायंकालतक अपने कार्य्यमें लगा रहता है और कृत्रिम आवश्यकताओंको वढ़ाना मूर्खता समझता है, उसका मन कभी दुनियांदारीकी चिन्ताओंसे चलायमान नहीं हो सकता। कृत्रिम आवश्यकताएं ही हमारे समाजका सत्यानाश करती हैं। हजारों लोग अपनी स्त्रियोंको सिरसे पैरतक हीरे और रत्नोंसे सजानेमें ही अपना गौरव समझते हैं, और कई अपने पिताके श्राद्धके समय वहुत अधिक धन खर्च करते हैं, वे सदा ऐसी चिन्ताओंमें ही फंसे रहते हैं। उनकी स्थिति बड़ी शोचनीय है।

२—यदि मन सदा उत्तम विचारोंमें ही मग्न रहे, तो बुरी चिन्ताओंको उत्पन्न होनेका अवसर ही नहीं मिल सकता। साधु और सज्जनोंके सत्संगसे, या धर्मशास्त्र अथवा विज्ञानके अभ्याससे भी चिन्ताएं दूर हो सकती हैं। बावू राजनारायण बोसकी वनाई हुई "से काले और ए काले" नामक पुस्तकमें "जंगली रमानाथ" गल्प वहुतोंने पढ़ी होगी।

रमानाथ जातिके ब्राह्मण थे, पर तो भी सब लोग उन्हें "जंगली" कहते थे। क्योंकि उनको आनन्द विलास (मौज और मज़ा) क्या वस्तु है इसका ज़रा भी ज्ञान न था। न्यायशास्त्रके अभ्यासमें वे ऐसे लीन रहते थे कि, उन्हें दुनियांदारीका बिलकुल

विचार न था। वे बहुत ही दीन अवस्थामें थे। और सारे ग्रामके सब पड़ोसी उसे सबसे अधिक कष्टमें पड़ा कहा करते थे। नदियाके राजा कृष्णाचार्य एक समय उनका दारिद्र्य दूर करनेके लिये उनके पास जाकर पूछने लगे। "क्या आपको कोई अनुपपत्ति है?" शास्त्रमें अनुपपत्ति शब्दका अर्थ है कोई सिद्धान्त स्थिर न होना। रामनाथने समझा राजा साहबने तो न्याय-शास्त्रके विषयमें प्रश्न किया है। उसने उत्तर दिया—"इस समय तो मुझे ऐसी कोई अनुपपत्ति दिखाई नहीं देती। राजाने अधिक स्पष्ट करनेके लिये कहा,—"आपको कोई "असंगति" तो नहीं है?" न्यायशास्त्रमें इस शब्दका अर्थ "समन्वय न होना" है। यह सुन रामनाथने कहा—"अभीतक तो मैं सबकी संगति लगा सकता हूं।" राजा बड़े विचारमें पड़ गये उन्होंने समझ लिया कि, इस ब्राह्मणको न्यायशास्त्रके सिवाय दूसरी किसी वस्तुकी परवा नहीं। तब उसने एक बार और स्पष्ट रीतिसे पूछा—"आपको सांसारिक कार्यमें कोई अड़चन तो नहीं है?" उसने उत्तर दिया कि "नहीं कोई अड़चन नहीं, मेरे पास कुछ बीघे जमीन है, उसमें कुछ धान पैदा हो जाता है, वही हमारे लिये पर्याप्त है। उस खेतपर इमलीका जो वृक्ष दीख पड़ता है, ब्राह्मणी उसके पत्तोंकी कढ़ी बना देती है। मैं उसे ही खा लेता हूं। मुझे और किसी बातकी अड़चन नहीं है।" ऐसा सन्तोष प्राप्त करनेके लिये किसकी इच्छा न होगी?

३—संसारको सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करनेसे विदित होगा

कि, इस विश्वमें कितने ही मनुष्य हमसे भी बुरी स्थितिमें पड़े हुए हैं। उनकी स्थितिका विचार कर हमें अपनी स्थितिपर ही सन्तोष करना चाहिए। सद्भाव शतकमें इस प्रसङ्गमें कृष्णचन्द्र मजूमदारने कविता लिखी है। उसका भावार्थ यह है :—एक बार मेरे पैरोंमें जूते नहीं थे, इससे मेरे हृदयमें क्षोभ मचा हुआ था। मैं मन्दिरमें ईश्वर-भजनके लिये गया, वहांपर मैं एक अपंग मनुष्यको बैठे हुए देखा। उसे देखकर मेरा सब शोक दूर हो गया।

दूसरोंकी दरिद्रताका विचार करनेसे, हमें अपनी निर्धनता तुच्छ प्रतीत होने लगती है। एक पथिक एक घोर अरण्यमें रास्ता भूल गया। रात्रिका समय था। वह अपनी अवस्थापर शोक प्रगट करता हुआ कहने लगा :—"ओह ! मैं कैसे भयानक वनमें आ पड़ा हूं। अन्धकारके मारे मुझे मार्ग भी नहीं सूझता। शीत भी कैसा असह्य है ?" शरीर थर थर काँपता है। देहपर कपड़े भी नहीं हैं। प्राण निकले जा रहे हैं।" इस प्रकार जब वह अपने भाग्योंपर रो रहा था उसी समय उसे कहींसे ये शब्द सुनाई पड़े। कोई कह रहा था—"हे पथिक, चुप रह, मत रो, ज़रा इधर आकर मुझे भी देख ले। तुझे शीत सताता है, यह ठीक है, पर तोभी तू पृथ्वीपर तो खड़ा है। पर मैं तो इस कुएमें पड़ा हुआ हूं और हाथोंसे कांगरेको पकड़े हुए ज्यों त्यों शिर ऊपर निकाले पानीपर तैर रहा हूं। मेरा गलेसे नीचेका शरीर पानीमें डूबा है, तू इसलिये उस ईश्वरको धन्यवाद दे,

जिसकी कृपासे तू मेरे समान कुएँ में नहीं गिरा।" इस कथाके कहनेका मतलब इतना ही है कि, संकटके समय, हमें अपनेसे अधिक संकटमें पड़े आदमीका स्मरण करके सन्तोष करना चाहिये।

४—जो मनुष्य संसारकी चिन्ताओंमें बहुत फँस गये हैं उन्हें एकान्तमें न रहना चाहिये। एकान्तमें उनकी चिन्ता और भी बढ़ जाती है। ऐसे मनुष्योंको साधु और सन्तोषी मनुष्योंके साथ रहना चाहिये। ऐसे कई मनुष्य मिलते हैं जिनके पास अगले दिनका भी खानेका ठिकाना नहीं होता, पर तोभी वे अतीतकी कुछ चिन्ता नहीं करते, वे हमेशा प्रसन्न बदन रहते हैं। ऐसे मनुष्योंके दृष्टान्त आगे रखनेसे हमारी चिन्ता बहुत हलकी हो जाती है।

५—जेसिस क्राइस्टने इस विषयमें जो उपदेश अपने शिष्योंको दिया है वह बहुत ही उत्तम है—"तुम अपने जीवनके विषयमें 'मैं क्या खाऊँगा ? मैं क्या पीऊँगा ? क्या पहनूंगा ?' इत्यादि कोई चिन्ता न करो। जीवन और कपड़ोंकी अपेक्षा क्या शरीर बहुमूल्य नहीं है ?"

"वायुमें उड़ते हुए पक्षियोंको देखो, वे न बोते हैं, न फसल काटते हैं और न अनाजके भण्डार भरकर ही रखते हैं, तोभी परम पिता परमात्मा उनका पालन करता है। तब आप तो उन पक्षियोंकी अपेक्षा बहुत बढ़े हुए हैं, आपका ईश्वर पोषण क्यों न करेगा ?"

तुममें कितने ऐसे हैं जिन्होंने चिन्ता करके अपने शरीरमें हाथ भर भी वृद्धि की हो? तुम अपने कपड़ोंके लिये क्यों चिन्तातुर हो? तालाबोंमें खिले हुए कमलोंकी ओर दृष्टिपात करो। देखो, वे किस प्रकार उत्पन्न होते हैं। वे कोई परिश्रम नहीं करते, कपड़े नहीं बुनते, तोभी कैसे सुन्दर हैं! वे स्पष्ट कह रहे हैं कि बाह्य टीपटाप रखनेपर भी महाराजा सुलेमान उन कमलोंमेंसे किसी एकके सौन्दर्यका मुकाबला नहीं कर सकता।

हे अविश्वासी लोगो! विचार करो कि, खेतकी घास जो आज यहाँ उग रही है कल वह न मालूम किस भाड़में झोंकी जायगी। उसको भी परमात्मा इतना सुन्दर बनाते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। तो फिर क्या वे तुम्हारे शरीरका यत्न-पूर्वक रक्षण न करेंगे?

इसलिये क्या खावेंगे, क्या पीवेंगे और क्या पहनेंगे इस बातकी कुछ भी चिन्ता न करो। क्योंकि स्वर्गीय पिता तुम्हारी आवश्यकताओंको भली प्रकार जानते हैं। प्रथम भगवानके राज्य और उसके धर्मविधानोंका अन्वेषण करो। सब खाने पहननेकी सामग्री तुम्हें आध्यात्मिक विषयोंके सङ्ग ही सङ्ग प्राप्त होती जायगी, इसलिये कलकी चिन्ता न करो।

तेरहवां अध्याय ।
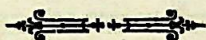
भक्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्न और उनके नाशके उपाय

(व्यवहार कुटिलता)

(६)

व्यवहार-कुटिलतासे पुरुष परमेश्वरको भी तिलाञ्जलि दे देता है इसके कारण प्रेम सोलहों आना नष्ट हो जाता है। इसके हृदयमें ईश्वरका वास होना असंभव है। कुटिल मनुष्य ईश्वरका भक्त होनेका ढोंग करता है, वह अपने ऐहिक लाभोंको भी त्यागकर भले लोगोंमें अपना विश्वास जमा लेता है। और पीछेसे उनको फन्देमें फंसा देता है। व्यवहार-कुटिल पुरुष समझता है कि, ईश्वर भी उसके प्रपंचको नहीं पहचान सकता। पर ऐसा सोचनेमें वह बहुत भारी धोखा खाता है, क्योंकि, किसी सेठके घरमें चोरीकर करके भी वह छोटेसे आदमीके सामने भी नहीं छिप सकता तब उस सर्वज्ञ परमात्माके सम्मुख धार्मिकताका ढोंग कैसे छिप सकता है ? ईश्वर और विषय-भोग दोनोंकी साथ साथ आराधना करनेवाला मनुष्य महा मूर्ख है।

मनुष्य संसारमें रहकर ईश्वरकी आराधना कर सकता है। यह बात निर्विवाद है, पर ईश्वरको हृदयके एक भागमें और विषयतृष्णाको दूसरे भागमें रखकर एक साथ आराधना करनेका विचार बड़ी मूर्खताका है। तात्पर्य्य यह कि, ईश्वर-भक्ति और विषयभोग दोनों एक साथ नहीं हो सकते। एक बंगाली कविने एक गायनमें कहा है कि—"मुझे शुद्ध प्रेमके सिवाय किसी दूसरी वस्तुसे सन्तोष नहीं हो सकता और उसमें भी संसारके झूठे प्रेमके नीचे दबा हुआ कूड़ा कचरा तो मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है। जो मनुष्य तौल तौलकर या हिसाब लगाकर प्रेम अर्पण करता है वह सच्चा प्रेमी नहीं, वह व्यापारी है—संसारका कीड़ा है।"

कितने ही मनुष्योंका ऐसा विचार है कि, "दैनिक धन्धोंके वश होकर हम पाप कर लेते हैं, तोभी समयानुसार परोपकारके कार्योंसे पुण्य भी कमा लेते हैं, उससे वह सब पाप कट जाता है। शेष पुण्य अधिक होनेसे स्वर्ग प्राप्त होता है।" उनका यह विचार भी भयंकर भूलसे भरा है। यदि एक मन दूधमें एक छटांक गोमूत्र मिला दें तो क्या तुम कह सकते हो कि, बर्तनमें अब ३९ सेर और पन्द्रह छटांक शुद्ध दूध है।"एक बर्तनको ऊपरसे काग लगाकर दृढ़तापूर्वक बन्द कर दें परन्तु उसकी तलीमें एकाध छिद्र ही क्यों न हो, पानी कभी न ठहरेगा। साधनोंके विषयमें मनु महाराज कहते हैं कि, "यदि इन्द्रियोंमेंसे एक इन्द्रिय भी स्खलित हो जाय तो उससे उसकी प्रज्ञाका नाश

हो जाता है। जैसे बर्तनकी तलीमें एकाध छेद होनेसे ही उसका सब पानी बह जाता है।" भगवान्‌के राज्यमें कृत्रिम धर्म करनेसे कार्य नहीं चलता। इस स्थानपर एक अंग्रेजकी कथा स्मरण आती है। वह अपने ऐहिक स्वार्थका साधन करनेमें कुछ कसर न छोड़ता, वह अपने कामको सिद्ध करनेमें हर तरहके पाप करता था। इतनेपर भी वह प्रत्येक रविवारको नित्य नियमसे गिर्जेमें जाता, और दीन दुखियोंको खुले हाथों दान करता और उनकी सहायता करता था। अपने बन्धु वान्धवोंसे वह सदा कहा करता था कि "यद्यपि मैंने गृहस्थी चलानेके लिये कितने पाप किये हैं पर तोभी मैं प्रति रविवारको नियमसे गिर्जेमें जाता हूं और अनेक दीन दुखियोंकी सहायता भी करता हूं। इसीके प्रभावसे, मुझे परलोकसे कुछ भी भय नहीं। मित्रो, देखो हमारा धर्म ठीक है, विषम पाप पुण्योंकी कटोती होकर पुण्य शेष रहेगा उसीके वलसे परलोकमें सुख होगा।

एक समय इली (स्काटलैण्डका निवासी) नामक एक अंग्रेजने एक ठेकेदारको एक गोचरभूमिके चारों ओर बाड़ बांधनेका ठेका दिया। उसने कई एक दिन काम करके कहा—"इस कामका हम १) रु० प्रतिदिन लेंगे।" मालिकने पूछा 'कैसे हुआ।' उसने उत्तर दिया कि, "बिलकुल ठीक हुआ।" इस वाक्यका अभिप्राय वह न समझा और बोला—"चलो हम स्वयम् उस बाड़को देखेंगे।" वहां उसने देखा कि बाड़ यद्यपि चारों ओर बनाई गई थी, पर उसके बीच बीचमें इतने बड़े बड़े छेद रह गये

थे जिनमेंसे गायें भी निकल सकती थीं। यह देख उसने ठेकेदारसे पूछा—"यह कैसी बाड़ बाँधी, बीच बीचमें इतने छेद रह गये हैं, इनमेंसे तो हमारे ढोर अन्दरसे बाहर निकल जायेंगे।" ठेकेदार बोला—"साहब! छेदोंके इधर उधर भी देखिये ढोर किस प्रकार बाहर जा सकते हैं। जिन जिन स्थानोंपर छेद हैं, उनके दोनों ओर बाड़ दोहरी और तेहरी लगा रखी है इससे क्या छेदोंकी कमी पूरी नहीं हो गई? क्यों भाई ठीक है कि नहीं?" दोनोंमें बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ, ठेकेदार बोला—"मुझे तो आपने जो कहा था मैं वही जानता हूं। बीच बीचमें स्थान छोड़कर दोनों ओर दुगुनी चौगुनी बाड़ बांधनेसे कोई लाभ नहीं, हमने तो आपकी धर्मकथाकी सी ही बाड़ बांधी है। आप अपने धर्मरूपी गृहके छेद बन्द करें मैं इधर अपनी बाड़के छेद बन्द करूं।" अंग्रेज़की कुटिल पाखण्ड बुद्धि टूट गयी, धर्मके राज्यमें ऐसे अच्छे बुरे और काम नहीं हो सकते। धर्म और अधर्ममें कटौती नहीं होती। गोहत्या करके ब्राह्मणको जूता दान करनेसे कोई पुण्य नहीं।

कितने ही लोग इसी पाखण्डबुद्धिसे प्रेरित होकर सोचा करते हैं कि प्रयोजनानुसार द्व्यर्थक भाषा बोलनेमें कोई हानि नहीं। एक बालक पाठशालामें उपस्थित होता था। स्कूल लगनेके पहले ही वह पाठशालामें जाकर फिर घर वापिस आ जाता था। और जब उससे प्रश्न किया जाता कि, "तू पाठशाला गया था?" उत्तरमें वह कहता—"हां गया था" तो ऐसे उत्तरका कौन कौन

समर्थन करेगा ? पर सदा स्मरण रखो कि, परमेश्वर वाक्यों-पर दृष्टि नहीं देता बल्कि भावोंकी ओर देखता है। छल-वाक्यका प्रयोग भी झूठका भाई है और जो झूठ सचसे मिला है वह तो झूठकी अपेक्षा भी बुरा है। धन लाभपर दृष्टि रखना ही दरिद्रताकी मुख्य जड़ है। संसारी मनुष्य सदा यही सोचता है कि किसी प्रकार धन, मान, यश, मिले और कैसे भी आनन्द हो। इसके फेरमें ईश्वरको भुलाकर उसीकी नाप जोखमें लग जाना ही कुटिलता है। जिसमें ऐसी कुटिलता नहीं वह संसारके सब कार्योंको करता हुआ भी सदा ईश्वरपर लक्ष्य रखता है।

श्रीरामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि :—"बाबू, संसारके काम-काजके लिये तुम विश्वासी पुरुषोंको मुख्तारनामा लिखकर दे देते हो फिर ईश्वरको भी ऐसा आम मुख़्तारनामा लिखकर संसारमें सुखसे क्यों नहीं रहते।" ऐसा करनेसे ठीक प्रकारसे सब गृहस्थ-पल सकता है। इसीके साथ धन, मान, और यश किसीकी भी कमी नहीं रहती ; कुटिल बुद्धिद्वारा धन, मान, यशकी चिन्ता करनेसे तृप्ति नहीं मिट सकती। केवल हिसाब लगाते रहनेसे सुख और शान्ति नहीं मिलती। इस विषयमें उपरोक्त महात्माने ही एक बड़ा उत्तम उदाहरण दिया है। एक बागमें दो मनुष्य गये। बागमें वृक्षोंपर सुन्दर सुन्दर पके पके आम लटक रहे थे। उनमेंसे एक तो यही गिनने लगा कि यहां कितने वृक्ष हैं उनकी कितनी शाखाएं हैं उनपर कितने आम लगे हैं और दूसरा प्रत्येक वृक्षके पास जा जाकर पके पके फल

झाड़कर खाने लग गया। उनका समय पूरा हो जानेपर बागके मालीने उन्हें बाहर निकल जानेको कहा। तब जिसने फल खा लिये थे वह तो शीघ्र बाहर निकल गया परन्तु दूसरे मनुष्यकी अभी गणना ही समाप्त नहीं हुई थी। वह बाहर निकलनेमें भी आनाकानी करने लगा। इससे झगड़ा होने लगा और माली उसे धक्का देकर बाहर निकालने लगा।

दुनियादारीके चतुर सुजान लोगोंकी भी यही दशा होती है। वे हिसाब लगानेमें लगे रहते हैं और हिसाब समाप्त होनेके पहले ही काल उनके सिरपर आ धमकता है। उस समय उन्हें सिवाय ठण्डी सांसें भरने और पश्चात्ताप करनेके कुछ नहीं सूझता वे हाय हाय किया करते हैं। ऐसे व्यवहारकुशल लोग सदा अपनी कुशलताका अभिमान किया करते हैं। अन्तमें उनकी आंखें खुल जाती हैं और देखते हैं कि "हमारे समान मूर्ख भी कोई नहीं। जिनकी स्वार्थपरता नष्ट हो गई है, मनमें कुटिलता नहीं, मनमें क्रूरता नहीं, आत्मा प्रबल हैं, चतुरताका अभिमान नहीं, उनलोगोंके आचरणका अनुकरण करनेसे यह कुटिल बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। छोटे बालकोंके साथ मिलकर रहनेसे हृदय अधिकाधिक सबल हो जाता है। कूटबुद्धिवाले लोगोंका संग छोड़कर जितना बालकोंसे मिलें उतनी कुटिलता भी नष्ट हो जाती है और सांसारिक चिन्ताका भी अन्त हो जाता है। इस संसारमें जिनका नाम प्रातः स्मरणीय है वे सभी बालकोंसे हिलमिल कर रहते थे। जीसस क्राइस्ट किस

अपने शिष्योंको सम्बोधनकर कहा करता था कि "छोटे छोटे बालकोंको मेरे पास आने दो क्योंकि वे ही स्वर्गके अधिकारी हैं।"

तैलंग स्वामी एक महात्मा थे। वे बालकोंको बहुत चाहते थे, उनके साथ नाना प्रकारकी खेलें खेलते थे। उनके पास एक छोटी सी गाड़ी थी। कभी उसमें बालक बैठते थे और स्वयं उस गाड़ीको खींचते थे कभी आप बैठते थे और बालक खींचते थे। योगी लोग बालकोंके साथ रहकर उनके समान निर्दोष हो जाते हैं। जिन्होंने रामकृष्ण परमहंसको देखा है वे सब अच्छी तरह जानते हैं कि उनका हृदय एक बालककी नाईं पवित्र, कोमल, और निर्मल था। उनके मनमें जो आता था, वे उसे तुरत कह देते थे और वे लोकभयसे डरकर कभी कुछ छुपाते न थे। समाजकी लाज या भयके कारण हमें बहुतसे अवसरोंपर पाखण्ड करना पड़ता है। उनमें उसका लेश भी नहीं था। ज्ञान संकलिनी तन्त्रमें महादेव कहते हैं कि—"बालभावस्तथाभावो निश्चिन्तो योग उच्यते।" अर्थात् बालकके समान सरल स्वभाव और सब प्रकारकी चिन्ताओंसे विरक्त होना ही सच्चा योग है।"

२—मित्रों, बन्धुओंके सम्मुख खुले दिलसे और निष्कपट भावसे वार्त्तालाप करनेसे भी कपटवृत्ति दूर होती है।

३—जिससे हृदय प्रफुल्लित और विकसित हो ऐसी प्रवृत्तिसे विशेष लाभ होता है। सृष्टिसौन्दर्य्यका अवलोकन करनेसे या उत्तम गायन गानेसे, चन्द्र दर्शन करनेसे अथवा शुभ कार्य्य

करनेसे, फूलोंसे लदे हुए बागीचेमें या नदीके किनारे सैर करनेसे अथवा पर्वतके शिखरपर जानेसे सदा हृदय विशाल होता है।

४—महापुरुषोंके जीवनचरित्रका अभ्यास करनेसे विदित होगा कि, निःस्वार्थता, उदारता और नम्रताके कारण ही संसार सम्मानपूर्वक उनको देवता मानकर भक्तिसे उनके पैरोंपर गिरता है। यदि वे सामान्य मनुष्योंके समान अपने स्वार्थसाधनमें कुटिल बुद्धिके वश हो जाते तो संसारमें उन्हें इतना आदर कभी न मिलता। ऐसे पुरुषोंके जीवनका ज्यों ज्यों अधिक अभ्यास करते हैं त्यों त्यों सांसारिक तृष्णा और दुर्बुद्धिसे घृणा होती जाती है।

५—लोकनिन्दाका भय त्याग करना आवश्यक है। 'दूसरे हमारे विषयमें क्या कहते हैं, ऐसी लोकनिन्दाके डरसे हम कई बार सांसारिक कुटिलताकी ओर दौड़ते हैं। सांसारिक कुशलता ही ऐसी कुटिलता और तृष्णाका उत्तेजक है। दूसरोंके विचार हमारे विषयमें कैसे हैं, इसकी चिन्ता न कर, जो लोग अपनी अन्तरात्माके आज्ञानुसार व्यवहार करते हैं उनकी कुटिल बुद्धि दूर हो जाती है और अन्तमें मान और कीर्ति भी प्राप्त होती है।

चौदहवाँ अध्याय
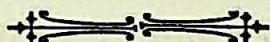
भक्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्न और उनके नाशके उपाय

(व्यर्थ बकवाद)

(१०)

बकवाद्से गंभीरता नष्ट हो जाती है। इसी कारण योगी लोग मौन धारण करते हैं। सदा बकवक करते रहनेसे प्रभाव जाता रहता है और विचारकी गंभीरता भी नष्ट हो जाती है। जो व्यक्ति जिस पदार्थको बहुत चाहता है उसे वह अपने खजानेमें छुपाकर रखता है, उसको वह कभी बाज़ारमें रखना पसन्द नहीं करता। जो सबसे अधिक प्रिय है उसे अपने मनमें छिपाकर रखा जाता है। जो रत्न हमारे हृदयमें गुप्त रहकर ही चमकता है उसे क्या हम कभी बाज़ारमें बेचेंगे ?

उसी कारण गुरुके दिये हुए मन्त्रको प्रकाशित करना मना है। पाइथागोरास नामक ग्रीकके एक तत्त्ववेत्ताने मौनकी आवश्यकताको पूर्णरूपसे अनुभव किया था। जिस मनुष्यने तीन वर्ष तक अस्खलित मौन धारण न किया हो उसको वह अपना शिष्य नहीं बनाता था। जिह्वाको वशमें किये बिना भक्त होना

दुस्साध्य है। भक्तके लक्षणोंको गिनाते हुए श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं —"तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् अनिकेतः स्थिरमति र्भक्तिमा मे प्रियो नरः" अर्थात् निन्दा और स्तुतिसे उदासीन रहनेवाला, मौनव्रती, जो कुछ मिले उसीमें सन्तोष करनेवाला, सांसारिक उपाधियोंसे रहित और स्थिर चित्तवाला पुरुष ही भक्तिमान है, वही मेरा प्रिय है।

एक मुसलमान भक्त साधकका कथन है कि—"जिह्वाकी चपलताको रोको, तब हृदयकी चपलता आप ही आप रुक जायगी।"

१—जो मनुष्य बहुत बकवाद करता हो, उसे मौन धारणकर जिह्वाको वशमें करनी चाहिये। सप्ताह भरमें तुम एक दिन ऐसा रक्खो, जिस दिन बिलकुल न बोलो अथवा अति आवश्यक कार्य्य आनेपर ही बोलो।

२—बाचाल मनुष्यको दिनका अधिकांश भाग एकान्तमें व्यतीत करना चाहिए। ऐसा करनेसे धीरे धीरे उसकी बुरी आदत मिट जायगी।

३—बेन्जामिन फ्रेंकलिनकी पीछे बतलाई हुई पद्धतिका अनुकरण करनेसे बहुत लाभ होगा।

* * * * * *

कुतर्क

जिस विषयपर हमारा विश्वास नहीं उसपर व्यर्थ वाद-विवाद करना, या जो विषय सिद्ध न हो सके उसको सिद्ध

करनेके लिये व्यर्थ विवाद करना कुतर्क कहाता है। कुतर्क भक्तिका विरोधी है। हृदयमें कुतर्क आ जानेसे बुद्धि शीघ्र ही भ्रममें पड़ जाती है। परमात्माके परमभक्त रामानन्द रायने ज्ञानाभिमानी तार्किक और प्रेमभरे भक्त हृदयमें बहुत उत्तम तुलना की है।

"रसको न जाननेवाला कौआ नीमके फलपर चोंच मारता है, लेकिन कोयल आमके मौरपर ही आँख लगाये रहती है। ज्ञानी तार्किक अभागा सूखा ज्ञानही फांका करता है और श्रद्धा-वान पुरुष कृष्णका प्रेमामृत पान किया करता है।"

एक दूसरे कविने कहा है कि--"भक्तिसे श्रीकृष्ण खिंचे चले आते हैं परन्तु वादविवादसे वे कोसों दूर रहते हैं।"

वादविवादसे ईश्वर कभी प्राप्त नहीं होता ईश्वर मनुष्यके मनसे भी परे है। उपनिषद् कहती है 'अप्राप्य मनसा सह' अर्थात् 'ईश्वर मनसे आग्राह्य है।' कठोपनिषद्में कहा है "अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते" अर्थात् "प्रभु है" इतना कहनेके बाद फिर किस रीतिसे उसे समझें।

मनुष्यकी बुद्धिसे भी अगम्य विषयोंपर वादविवाद करते हुए बहुतसे पागल हो गये हैं। महान् कवि मिल्टनने शैतानके साथियोंको ही निरर्थक वादविवाद करनेवाला कहा है। वे लोग वादविवादके चक्करमें पड़ गये थे। नारद ऋषि भक्तिसूत्रमें कहते हैं 'वादो नावलम्ब्यः' अर्थात् व्यर्थके वादविवादमें मत फंसो। हममें बहुतोंसे कुतर्ककी आगमें चंचल होकर वादविवादमें

पड़े विना नहीं रहा जाता। कलकत्तेके विद्यार्थियोंमें यह टेव विशेषकर देखनेमें आती है। जिसका असर विद्यार्थियोंपर बहुत बुरा होता है। ऐसा वाद्‌विवाद जहाँ होता हो, वहांसे उठकर चले जाना चाहिये। यही उसे रोकनेका उत्तम उपाय है।

संगति, प्रभुकीर्तन, धर्मपुस्तकोंका अभ्यास और धार्मिक विषयोंकी चर्चा करनेसे मनोभाव शुद्ध होते हैं और वाद्‌प्रियता कम हो जाती है।

* * * * *

धार्मिक आडम्बर

यह रोग हममें बहुतोंको लगा है। हम बाहरसे अपनेको धार्मिक दिखलानेके लिए बहुत आतुर रहते हैं। हमारेमेंसे बहुतसे ऐसे हैं जिनके हृदयमें अपने आपको भक्त और पवित्र मनुष्य कहानेकी इच्छा बहुत प्रबल होती है। इसीसे पाखण्ड या दिखावटी धार्मिक रूप दिखलानेकी इच्छा भी प्रबल हो जाती है। आभ्यन्तरका धर्मभाव कम हो जाता है। मनमें अनेक अनेक प्रकारका विकार उत्पन्न होता है। बाबू केशवचन्द्र सेनने ब्रह्म-समाजके अनुयायियोंको इस विषयमें बहुत ही उत्तम सलाह दी है :—

"इस संसारमें पाखण्डी लोगोंका अन्तःकारण काला होता है। वे सौम्य वेश पहनकर बाहरसे भले मालूम होते हैं। हे प्रभुके भक्तो! तुम अपने अन्तःकरणको उज्ज्वल रखो, बाहरका वेश चाहे भद्दा ही रहे। प्रभुके प्रेमरूपी अमृतको अपनी आत्माके

भीतर रखो। अपने शरीर या अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिये यदि तुम उपवासादि करते हो, तो वह और लोगोंको दिखानेके लिये नहीं बल्कि थोड़ा खानेके संकल्पसे रक्खो। कभी भी सर्वसाधारणके प्रति अपनेको भला साधु कहकर परिचय मत दो। पवित्रताके एक ही बाहरके चिह्नको देखकर लोग किसीको महात्मा बुद्धके समान महायोगी, किसीको जीसस क्राइस्टके समान पापियोंका बन्धु और श्रीकृष्ण चैतन्यके समान परमभक्त मानेंगे। चाहे मनुष्यमें वैराग्यका लवलेश भी न हो पर यदि वह एक भगवा वस्त्र पहिने हुए है, तो भी लोग उसको महायोगी कहकर उसके चरणोंकी धूलि सिरपर लगाते हैं। जिस मनुष्यके पास एक फूटी कौड़ी भी न हो, ऐसे मनुष्यको भी लक्षाधिपति कहते हैं। यही अब लोकरीति है। हे संसारसे विरक्त पुरुषो! तुम कुछ निन्दा और स्तुतिकी भी परवाह न करो। धर्मकी रक्षाके लिये यह सब कष्ट सहनकर तुम एक स्थानपर अपना कष्ट बतलानेके लिये दौड़े मत फिरो। यदि तुमने उपवास किया है तो घरमें शान्तिसे बैठो, जिससे लोग यह न जानें कि, तुम उपवासी रहे हो। एकाध दिन यदि अपने हाथों रसोई बनाकर खाओ अथवा एक दिन एकाध विशेष फल आदि न खाओ तो इतनेमें दूसरे दिन बात चारों ओर फैल जाती है और समाचारपत्रोंमें छप जाती है, चारों ओरसे स्त्री और आत्मीय कुटुम्बी सब कहने लगते हैं "कि यह कैसा वैराग्य हो गया! ईश्वरके प्रति यह कैसा गम्भीर अनुराग है!" परमात्माके सच्चे भक्तो!

ऐसी झूठी प्रशंसामें कभी मत फंसो। यदि कोई तुम्हारे सम्मुख ऐसे शब्द कहे तो अपने कान बन्द कर लो। धर्म और सद्गुणों-को ढके रखनेके लिये दंभका उपयोग करो। बाहरी ढोंगोंसे प्रशंसा पानेकी इच्छा कभी मत करो। क्योंकि, बाहरी ढोंगसे तुम्हारी आत्मासे संसारको हानि होगी।

जीसस क्राइस्ट भी अपने शिष्योंको लोकेषणाके त्याग करने, उपवास करने, ईश्वराराधन और दान देनेका उपदेश दिया करते थे। हम ऊपर कह चुके हैं कि, जो वस्तु अपने आदर योग्य है वह वस्तु बाज़ारमें नहीं रखी जाती। जिन मनुष्योंको धर्मसे प्रेम है वे दूसरे लोगोंके सम्मुख उसकी बड़ाई नहीं करते। धर्मभाव तो उसके वचनमें, हृदयमें और व्यवहारमें आपसे आप ही अग्निके समान प्रकट हुआ करता है। वह छिपाकर रखा नहीं जा सकता है। जैसे अनुरागीका अनुराग उसके नयनोंसे टपका करता है उसी प्रकार धार्मिक पुरुष भी स्वयं प्रकट हो जाता है। इसलिये उसे कभी अपने आपको प्रकट करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

साधु संन्यासी अपनी प्रसिद्धि हो जानेके भयसे ही एक स्थानपर तीन दिनसे अधिक नहीं टिकते। एक समय "बारीसाल" में एक साधु कुछ समयतक तो नदीके किनारे गुप्तरूपमें रहे। उन्होंने लोगोंको "वह कौन है" इस बातका भी कुछ पता न चलने दिया। वे साधु घर घर गाते फिरते और लड़के उन्हें पागल समझ उनकी अवज्ञा करते थे। जब उनके गुणोंका ज्ञान

हुआ तब सब उनका आदर करने लगे। परन्तु जब उसे विदित हुआ कि मेरे गुण मालूम होने लग गये हैं तब वे वहाँ दो तीन रोजसे अधिक न ठहरे। जाते जाते जब किसीने उनसे पूछा कि, यहांसे क्यों जाते हो? तो उन्होंने कहा कि, "यहां गरमी बहुत पड़ने लग गई है। क्योंकि, लोग उसके विषयमें बहुत चर्चा करने लग गये थे उसे इससे बड़ा सन्तोष था। उनका वहां ठहरना भी ठीक न था। सच्चे साधु कभी भी अपने आपको प्रसिद्ध नहीं करना चाहते। 'खाली चना और बाजे घना' यह उक्ति बिलकुल सत्य है। जिन लोगोंमें कुछ भी सार नहीं वे ही बाहरी ढोंग करनेमें लगे रहते हैं। आडम्बर करना ही शून्यहृदयका परिचय देता है। संस्कृतमें कहा है कि—

अगाधजलसंञ्चारी विकारी नैव रोहितः।
गण्डूषजलमात्रेण शफरी फर्फरायते॥

"गहरे जलमें विचरनेवाला रोहित नामक महामत्स्य सदा शान्त भावसे रहता है पर थोड़ेसे पानीमें रहनेवाली मछली सदा फड़फड़ाया करती है। छोटी मछलीकी चंचलता कभी उससे नहीं छूटती। ओछा पुरुष अगाध जलमें महामत्स्यके समान शान्त भक्तिके सुधारसमें कभी मग्न नहीं होता। हम इसी प्रसङ्गमें एक कथाका उल्लेख करते हैं।

"एक हिन्दू राजकन्या थी। वह श्रीरामचन्द्रजीकी अनन्य भक्त थी पर उसका पति कभी राम नाम न लेता था। इससे उस राजकन्याको बहुत दुःख होता था और वह अपने

पतिसे राम नाम कहानेके लिये अनेक प्रकार विनती, प्रार्थना आदि किया करती थी। वह कभी इसपर कुछ ध्यान न देता था। राजकन्या श्रीरामसे सदा अपने स्वामीकी सुमतिके लिये प्रार्थना करती थी। एक दिन प्रातःकाल उसने राज्यके शासक-को कहला भेजा कि,—"आज मुझे अपार प्रसन्नता है। मैं उसका कारण प्रगट करना नहीं चाहती। आज शहरमें ब्राह्म-णोंको भोजन कराओ, भिक्षुकोंको दान दो और नगरके चारों दरवाजोंपर मंगल बाजे बजवाओ। हमारी यही आज्ञा पालन करो।" शासकने नगर भरमें वैसा ही आनन्द मङ्गल कराना शुरू करा दिया, पर किसीको भी यह विदित न हुआ कि, बात क्या है? सब कहते थे कि महारानीकी आज्ञा है। राजकुमार ऐसा आनन्द मंगल देखकर अवाक् रह गया, उसको भी इसका कोई कारण पता न लगा। पूछनेपर शासकने इतना ही कहा कि,—"रानी साहिबाकी आज्ञा है।" तब राजाने रानीके पास जाकर उस आनन्दका कारण पूछा पर रानीने नहीं बताया। जब राजकुमारीने देखा कि राजकुमार बड़े व्याकुल हो रहे हैं और अब रुष्ट हो जायंगे, तब उसने कहा कि, आज मेरे हृदयमें इतना अधिक आनन्द है, इसको तुम्हें क्या बतलाऊं? आज मेरी चिरकालकी मनोवाञ्छा पूरी हुई। मैं तुमसे इतने दिनोंतक राम नाम लेनेको हज़ारों बार आग्रह करती थी, तुम्हारे पैरों पड़ती थी, पर तुम न लेते थे। गत रात्रिको सोते हुए तुमने वही श्रीराम, वही अमृतमय नाम, वही मेरे

प्राणोंसे भी प्यारा नाम आपने कई एक बार उच्चारण किया। आज हमारा जीवन धन्य है। हमारी इच्छा पूरी हुई, इसीका आज यह उत्सव है। राजकुमार कुछ कालतक एक टक देखता रहा, फिर पूछने लगा—"कौनसा नाम, क्या नाम?" राजकुमारीने कहा,—"राम नाम।" वह राजा बोल उठा—"अहो! इतने दिनों-तक इस धनको अपने दिलमें छिपा रखा! सुनते ही कुमार अन्तमें बाहर निकल ही पड़ा।" ऐसा कहकर वह बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। राजकुमारी यह देखकर विस्मित हो गई उसे तभी पता लगा कि उसका स्वामी सामान्य पुरुष न था। वह नहीं जानती थी कि उसने इतने दिनोंतक किस देवताकी चरणसेवामें कृतकृत्यता पाई थी।

श्रीरामकृष्ण परमहंस गाया करते थे, कि ऐ मेरे मन! तू अपनी मा कालीका सदा ध्यान कर। उसे तूभी देख, मैं भी दर्शन करता हूं और दूसरा कोई भी न देखेगा।

हाफ़िज कहता है कि मोमकी बनी हुई मूर्त्तिके समान सुन्दर तुम्हारा प्रियतम है। उसको निर्जन एकान्त रहस्यमें लेकर बैठ, वहां अपने दिलकी सब चाहें मिटाकर नये नये प्रेमोपहार रूपका चुम्बन लिया कर। सच्चा भक्त कभी अपनी भक्तिका ढोल नहीं बजाया करता। वह अपने ईश्वरके साथ अपने हृदयमें गहरेसे गहरे एकान्तमें मिलता है और वहां उत्कण्ठित हृदयसे सब दिलकी खोल देता है। हे प्रभो! तेरे साथ दिन

और रात मेरी रहनेकी इच्छा है, मैं तुझे एकान्त गुप्तस्थानमें रक्खूं और तुझे अपना दिल दे दूं ।

धर्मपाखण्डको व्यर्थ जानकर यह न समझ लेना चाहिये कि धर्मकी चर्चा ही न करें । ऊपर दृष्टान्तोंमें कहे हुए राजाकी तरह जिसका मन प्रभुप्रेमसे पूर्ण न हो, उसके लिये तो धार्मिक चर्चा बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि वे धर्मचर्चा न करें तो धर्म भी उनसे पता नहीं कितनी दूर हो जाय ।

हमारे भक्तिशून्य हृदयमें भक्तिसंचार करनेके लिये ही धर्म-कथा होती है तब भी सावधान रहना चाहिये कि कहीं आडम्बर या दिखावेके लिये धर्मकथा न कही जाय । जो सचमुच भक्त हैं उनका अन्योंके हृदयमें भक्ति पैदा करनेके लिये धर्म-कथाका करना परम कर्त्तव्य है । वे बिना कहे भी अपने भावों तथा चक्षुविक्षेपोंसे प्रचार किया करते हैं । राजकुमारीने विशेषरूपसे देख कर जाना, परन्तु उसने पतिको पहले नहीं समझा ।
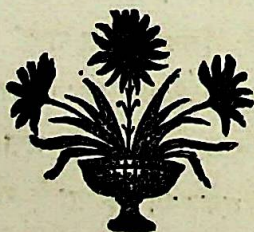
पन्द्रहवां अध्याय
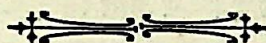
भक्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्न और उनके नाशके उपाय

(लोकभय ।)

(११)

विघ्नोंके प्रकरणको समाप्त करनेके पहले भक्तिमार्गमें रहनेवाले एक विघ्नका कुछ वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है। लोकभय भक्तिमार्गमें विशेष प्रतिबन्धक है। लोकभयके कारण ही हम बहुतसे पुण्यकार्य करनेमें संकोच करते हैं। हम पुरुषार्थहीन हो जाते हैं। लोकनिन्दासे भय खाकर मनुष्य कैसे पागल हो जाता है इसका एक दृष्टान्त नीचे लिखते हैं। बङ्गालके किसी नगरमें एक मास्टर था। वह लोकनिन्दासे बड़ा भय करता था। एक दिन वह अपने घरके कुएंसे पानी खींच रहा था। इतनेमें उसके कितने ही मित्र उससे मिलने आये। जब वे पास आये तो मास्टरने डोल रस्सी समेत कुएंमें छोड़ी, उन्होंने पूछा—"क्या कर रहे हो ? इतना कहना था कि मास्टरके हाथ ढीले पड़ गये और रस्सी छूट गई। घड़ा कुएंमें डूब गया।

उसने उत्तर दिया—"कुछ नहीं, मैं कुएंकी गहराई देखने लग

गया था। इस प्रकार लोकनिन्दाके भयसे बेचारे मास्टरने अपना घड़ा भी खो दिया। हममेंसे अधिक लोगोंके विचार और व्यवहार ऐसे ही हैं। वे लोग निन्दाके डरसे अपने इस लोक और परलोकको भी यों तिलाञ्जलि दे देते हैं। जब हमारे हृदयमें प्रार्थना करनेका या संध्योपासनमें बैठनेका विचार होता है उसी समय दूसरे हमारी क्या आलोचना करेंगे वा हमारी निन्दा करेंगे, ऐसा विचार आते ही हम चिन्तामें पड़ जाते हैं। यही विचार उठते रहते हैं कि कौन कौन उपहास करेंगे, कौन कौन तङ्ग करेंगे। हम उनसे संकोच करते हैं। भलेमानस होकर जीवन बिताते हुए भी इस संसारमें कभी कभी बहुत सी निन्दाएं सुननी पड़ती हैं। एक युवा मनुष्य सरकारी नौकरी-का उम्मेदवार था। जब उसकी अवस्था पूछी गई तो उसने अपनी आयु छब्बीस वर्षकी बतलायी। उसको यह नियम भलीभाँति मालूम था कि सरकारी नौकरीके लिये २५ वर्षकी आयु होनी चाहिये। बहुतसे लोग उसे सत्य बोलते ही पागल कहने लगे। क्योंकि जो लोग मनुष्यकी अपेक्षा ईश्वरसे अधिक डरते हैं, वे प्रायः समाजमें पागलके नामसे ही पुकारे जाते हैं। जो समाजकी किसी कुप्रथा या सदाचारके सुधारका भारी कार्य्य अपने सिर-पर लेते हैं, उनको कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं, इसका अनु-मान संसारके महान् पुरुषोंकी जीवनियोंको पढ़नेसे हो जाता है।

जीसस क्राइस्टने पापका विरोध किया और ईश्वरीय नियमों-को लोगोंके सम्मुख रखा, पर उसके बदले उन लोगोंने उसे

फांसीपर चढ़ा दिया। आज हमारेमें कितने ही लोग चैतन्य देवको भी ढोंगी और पाखण्डी कहकर गालियां देते हैं। कभी ऐसा देखते हैं कि मातापिता भी अपने पुत्रको सन्मार्गपर चलता देखकर उसके विरुद्ध कितने उपाय करते हैं। इसका यह तात्पर्य्य नहीं कि कोई विरोध ही न हो। जो मनुष्य सचमुच सन्त हैं, वे परमात्मापर अचल विश्वास रखते हैं, और चाहे जितने विघ्न उनके मार्गमें क्यों न आ जायं वे जरा भी विचलित नहीं होते।

कितने महात्मा धर्म और सत्यके लिये पाखण्डी अत्याचारियोंके हाथों अपने जीवनको अर्पणकर इस पृथ्वीको धन्य कर जाते हैं। उनका स्मरण करनेसे जीवन पवित्र हो जाता है। जो तुम महान् पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करोगे तो तुम्हें अपने जीवन तकको दावपर धर देना होगा। लोकनिन्दाका कष्ट तो उसके सामने कुछ भी नहीं। वङ्गाली भक्त रामप्रसाद कहा करते थे—"जय काली जय काली, लोग तो कहते ही रहेंगे कि पागल हो गया।" सब भक्तोंकी यही दशा होती है। हमारे प्राणनाशकी आशङ्का तो है नहीं, तो क्या हम अपने जीवनके ऊंचे आदर्शोंको थोड़ेसे लोगोंके मुखोंसे निन्दा सुनकर छोड़ दें ? जो मनुष्य ईश्वरका साथ चाहता है वह क्या लोगोंके कहनेकी परवा करेगा ? आनन्दकी उमङ्गमें आकर एक भक्त कहता है कि—

"तेरी मेरी दोस्ती लागत, लोक सब बदनाम किया।
लोक सबको बकने दीजे, तुमने हमने काम किया।"

जब राधाको पता लगा कि, मेरी ननद कृष्णके प्रति प्रेम देखकर बड़ी आपत्ति करती है, वह यह बात न सह सकी और बोल उठी—"जा, सारे ग्राममें ढिंढोरा पिटवा दे कि, मैं कृष्णके कलङ्कमें डूब गई हूं।"

इसी आदर्शको लेकर भक्तिके कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण होना चाहिये। चाहे लोग तुम्हें पागल कहें, मूर्ख कहें, स्वार्थी कहें, वे तुमपर धूल डालें, अथवा दूसरी रीतिसे तुम्हें यातना दें, तो भी तुम अपने मार्गसे तिलमात्र भी विचलित न हो।

लोकनिन्दाके कारण हमारी क्या क्षति होगी और समाज-की क्या हानि होगी इसका भी एक बार विचार कर लेना चाहिये। कोई व्यक्ति अदालतमें मुहर्रिरका काम करता है, उसे २०) रुपयेसे भी अधिक वेतन नहीं मिलता, वह अपने घरके लिये बाजारसे चीजें खरीद लाना अपना अपमान समझता है। वह सोचता है कि मुझे मालूम नहीं लोग क्या कहेंगे। उसे भी एक नौकर रखे बिना अपना काम चलता नहीं दीखता। वह ४) रुपये मासिकपर एक नौकर रखता है और ४) रुपये उसे भोजनके देता है। शेष केवल १२) रुपयेमें वह अपने कुटुम्बका भरणपोषण भी नहीं कर सकता। इससे जब जब कोई मुकद्दमा उसके पास आ जाता है तब तब कभी तलाशी, कभी दाखिली, कभी दर्शनी, कभी जलपानरूपसे घूंस लेनेके लिये वह बायां हाथ फैलाये रखता है। इस प्रकारके घूस-खोरोंमेंसे बहुतसे कहा करते हैं—"साहब! इसमें हमारा क्या

दोष ? उच्चकुलमें पैदा हुए हैं। इतना तो कुल वेतन पाते हैं इसीसे समझ लें। यदि हम एक नौकर न रक्खें तो सब लोग क्या कहेंगे और यदि रख लें तो आप ही कहिये परिवारका पालन कैसे हो। सब ये भद्र लोग भी 'लोग क्या कहेंगे' यह सोचकर ही धर्मको तिलाञ्जलि दे देते हैं, वे कितने बुद्धि-मान हैं ?

लोकभयके कारण हम कई वार बड़ेही नीच घृणित आमोद प्रमोदों और कुत्सित कर्मोंमें भाग लेते हुए भी नहीं हिचकते। हमारे पड़ोसीके यहां यदि वेश्याका नृत्य होता या कोई भांड़ों-की समाज बैठती है तो हम ऐसे आमोद प्रमोदके विरुद्ध भी कई व्याख्यान दे डालते हैं, पर निमन्त्रण आ जानेपर सोचने लगते हैं कि नृत्यमें ग़ैरहाजिर कैसे रहा जाय ? यदि ग़ैरहाजिर रहे तो लोग क्या समझेंगे ? अपने ही बन्धुवर्ग नाराज हो जायँगे। सो जाना ही पड़ेगा। ऐसा विचार करते करते अन्तमें हमें ऐसे नीच घृणित कार्योंमें भी सहयोग देकर अपना हृदय कलुषित करना पड़ता है। कई लोग बाल्यविवाहके बड़े विरोधी होते हैं। वे लोग भी अपने बच्चोंका बाल्यकाल हीमें विवाह कर उनका घोर अनिष्ट करते हैं। इस प्रकार अपनी और अपने समाजकी हानियोंके कितने ही दृष्टान्त दिये जा सकते हैं।

२—महापुरुषोंकी जीवनियोंको पढ़नेसे पता लगता है कि, वे जैसा उचित समझते थे वैसा करते थे। लोकनिन्दाको

कुछ भी न समझते थे। इसी विचारको अधिकाधिक पक्का करने-से लोकभय दूर हो जाता है। धर्मके लिये, सत्यके लिये, महापुरुष ऐसा दुर्दम्य तेज दिखाते हैं कि उनका एक स्फुलिङ्ग भी किसीके जीवनमें पड़ जाय तो उसको लोकभय नहीं रहता। उन्हीं महापुरुषोंके जीवनपर आलोचना करना हमारा कर्त्तव्य है।

३—और भी एक बातपर: ध्यान देनेसे लोकभय बहुत कम हो जाता है। ऐसे बहुतसे दृष्टान्त देखनेमें आवेंगे कि जो पहले किसी भली बातके बड़े पक्के विरोधी थे बादमें वे ही उस विषयके कट्टर पक्षपाती हो गये। जिनको धर्म और सत्य प्रिय लगता है बादमें उन्हींकी जय होती है। इसी प्रसङ्गमें ऐसा कितनी वार देखनेमें आता है कि किसीकी निन्दा करके कोई जलतक ग्रहण नहीं करते वे भी ऐसे उलटे सीधे चक्करमें पड़ जाते हैं कि उन्हें अपनी भूल मालूम हो जाती है और वे ही उनके परमबन्धु, मित्र होकर उनके सिरहाने बैठे पाये जाते हैं। अनेक शत्रु मित्र बन जाते हैं। किसी व्यक्तिका जिस विषयमें पिता बड़ा विरोधी है, पुत्र उसी व्यक्तिका उसी बातमें बड़ा मित्र और भक्त हो जाता है। किसी बातपर भी दृष्टि डालिये ऐसे विपरीत स्वभावके पिता पुत्रोंके सभी स्थानों-पर कितने ही दृष्टान्त पा सकेंगे। कितनी भली बातोंके भी बहुतसे निन्दक होते हैं और उन्हींकी सन्तानें एक दिन उनका भक्त बन जाती हैं। यह सब विचारकर लोकको अपना विरोधी देखकर भी निराशा उत्पन्न नहीं होती।

ऐसा मान लो कि, कोई तुम्हारे पक्षका पोषक नहीं है, तो भी क्या हुआ ? जो सत्य है, जो धर्म है, उसकी स्वीकृति ईश्वरकी ओरसे मिलती है। उसके करनेमें तो कोई सन्देह नहीं रहता। तराजूके एक पलड़ेपर परमात्माको रखो और दूसरेपर सारा भूमण्डल रखो और फिर देखो कि, उनमेंसे कौन भारी है ? और और तुम किसको चुनते और किसको अपनाते हो।

* * * * *

उपसंहार।

भक्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्न और उनके दूर करनेके उपाय बतला दिये गये हैं, उन सबको ध्यानमें रखनेके लिये मनको वशमें करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। मनही सब पापोंका घर है। वह उनका नाश कर नहीं सकता। योगवासिष्ठमें श्रीवसिष्ठजी मनको मनसे वश करनेके विषयमें श्रीरामचन्द्रको कहते हैं कि "मन ही मनको निरोध करनेमें समर्थ है। हे राम जो मनुष्य स्वयं राजा नहीं है वह अन्य राजाको कैसे जीत सकता है ?"

जो मनुष्य पापकी ओर जाते हैं, उनको अपना मन बलसे उच्चगामी बनाकर उन्नत श्रेय साधनकी ओर मोड़ना चाहिये। वे बाह्य सुखोंमें, बाह्य विषयोंमें चरनेवाली इन्द्रियोंको सद्विचारोंके बलसे अन्तर्मुख करके, अन्दरके अन्तरायोंको दूर कर सकते हैं। दक्षस्मृतिमें कहा है कि—

मनस्येवेन्द्रियाण्यत्र मनश्चात्मनि योजयेत् ।
सर्वं भावविनिर्मुक्तः क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणि न्यसेत् ॥
बहिर्मुखानि सर्वाणि कृत्वा चाभिमुखानि वै ।
एतद्ध्यानं तथा ज्ञानं शेषस्तु ग्रन्थविस्तरः ॥

"बाहर विचरती हुई इन्द्रियोंको मनकी ओर मोड़ ले और मनको आत्माकी ओर लगा दे और सब इन्द्रियोंके बन्धनोंसे मुक्त आत्माको ब्रह्मकी ओर लगा , यही ज्ञान और यही ध्यान है। शेष सब बातें व्यर्थ ग्रन्थ बढ़ानेके लिये लिखी गयी हैं।

श्रीमद् भगवद्गीतामें अर्जुनसे भी कृष्ण कहते हैं—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

जिस प्रकार कछुआ अपने सब अङ्गोंको चारों ओरसे सिकोड़कर अन्दर खींच लेता है उसी प्रकार जो मनुष्य इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर अन्दरकी ओर कर ले उसीकी बुद्धि स्थिर समझी जाती है।

इससे किसीको यह न समझना चाहिये कि सब कर्म्मोंका त्यागकर देनेसे कर्मत्याग हो जाता है, ऐसे कर्म्मोंका त्याग नहीं हुआ करता।

"इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके अन्तःकरणमें रहनेवाले आत्माकी सेवामें लगा देनेसे ही कर्म्मोंका त्याग हो जाता है।"

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

जो मनुष्य अपने सब कर्म ब्रह्मको अर्पण करके निष्काम बुद्धिसे आरम्भ करता है, वह जलमें रहनेवाले कमलकी तरह पापसे लिप्त नहीं होता।

ऊपर उपाय कहे जा चुके। इनके अभ्याससे सब विघ्न बाधायें दूर हो जाती हैं अर्थात् शम और दमका साधन करनेसे पुरुष शान्त और दान्त हो जाता है। शान्त हुए बिना दान्त पुरुष भी भगवानका सखा होकर भक्तिरसका अधिकारी नहीं हो सकता। उपसंहारमें और एक आवश्यक बातका हम उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। बहुत अवसरोंपर पाप पुण्यका वेष धारण करके प्रकट होता है।

शैतान भी साधुका वेष धरकर, तिलक लगाकर, परम वैष्णवके वेषमें उपस्थित होकर हमें बुरी सलाहें दिया करता है। इससे हमें सदा सावधान रहना चाहिये। किसी समयमें उसके धोखेमें कभी न पड़े। कोई व्यक्ति कोई अन्यायका कार्य करता है या कोई बुरा काम करता है या गालियां देता है इसपर हमें कभी बुरा न मानना चाहिये। हम उसका प्रतिवाद करना या उसको दण्ड देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। तोभी हम उसे क्या कहें। यदि "क्षमा करो" इतना ही उसका प्रतिवाद करें तो क्या कार्य नहीं हो जायगा? पृथ्वीमें ऐसे तो कितने ही मनुष्य होते हैं, उनपर क्रोध करनेसे क्या लाभ? एक मात्र क्षमा ही चाहिये। तो भी ऐसे अवसरोंपर जो लोग पापके लिये दण्ड देनेका विरोध करते हैं और क्षमाकी

दुहाई देते हैं वे वाह्यरूपसे पापको आश्रय देते हैं। वे इस बातको नहीं समझते कि क्षमाके वेषमें पाप उनपर अधिकार करता है। हम जानते हैं कि कोई व्यक्ति बड़े संकटमें पड़ा है, किन्तु उसको नगद रुपया दान करें तो वह उसका दुरुपयोग करता है ऐसे अवसरोंमें जिन पुरुषोंने दयार्द्र होकर दान दिया था वे नहीं जानते थे कि पापने दान पुण्यका रूप धरकर उन्हें धोखा दिया।

बहुत अवसरोंपर हम काम और क्रोधके वशमें हो जाते हैं और मनको सन्तोष दे लेते हैं कि, ऐसा ही करनेसे ठीक हुआ करता है। यदि ऐसा न करेंगे तो हमारे काममें त्रुटि रह जायगी। ऐसे समयोंमें हम पापको पुण्य कहकर लोगोंमें अपना मान बनाये रखनेके लिये नाना प्रकारका तर्क किया करते हैं। ऐसे ही समयोंमें शैतान साधुके रूपमें प्रगट होता है। इस प्रसङ्गमें बहुतसे दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। अपने मनोमन्दिरके चारों ओर हमें कड़ा पहरा रखना चाहिये। जिससे पाप किसी उपायसे भी प्रवेश न कर सके।

दूसरा भाग ।
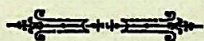
प्रथम अध्याय ।

भक्ति मार्गके साधक उपाय ।

(प्रस्तावना)

भक्तिमार्गके बाधक कार्य्योंका वर्णन हो चुका। अब हमें इस भागमें भक्तिलाभ करनेके लिये उचित उपायोंका वर्णन करना है। जिस मनुष्यके हृदयमें सच्ची भक्तिका उदय हो गया है, उसको तो अन्य साधक उपायोंकी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि, "तालवृतेन किं कार्यं लब्धे मलयमारुते, मलयानिलके बहते हुए ताड़के पंखेकी क्या आवश्यकता है। जिसके हृदयमें भक्तिका उदय नहीं हुआ है उसे जिज्ञासु, आर्त्त या अर्थार्थी बननेका प्रयत्न करना चाहिये। शांडिल्य ऋषिका कथन है कि,—"महापातकिनांत्वार्तः।" महापातकी मनुष्योंको आर्त्तभक्त होनेका अधिकार है। प्रथम नीचे दर्जेका भक्त होकर फिर ऊंचे दर्जेका भक्त बना जा सकता है। जिसमें प्रारम्भ हीसे शुद्ध और निष्काम भक्तिका अस्तित्व रहता है, वास्तवमें

वही भाग्यशाली है। किसी किसीको यह शङ्का हो सकती है कि, आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी होनेके लिए प्रयत्न कैसा ? हमपर विपत्तियां आवेंगी और हम आर्त्तभक्त बन जायेंगे। जिज्ञासा तो प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें स्वाभाविक होती ही है और जब मनुष्यको धनकी कमी होती है, तब वह अर्थार्थी भक्त हो जाता है।

सबसे प्रधान बाधा तो यह है कि, मनुष्यको हम विपत्तिमें हैं या इस संसारमें या घोर पापमें डूब रहे हैं, इसका ज्ञान अत्यन्त कठिनतासे होता है। जिज्ञासा मनुष्यमें होती तो है अवश्य, पर वह उसे सत्य ज्ञान और आत्म-शान्ति प्रदान करनेवाली नहीं होती। आपने ऐसे कितने मनुष्य देखे हैं जो ईश्वर सम्बन्धी वचनामृत और धर्मके सिद्धान्तोंको सुननेके लिये आतुर रहते हैं ? मनुष्योंमेंसे अधिकांश तो इस बातको ही जाननेके लिये विशेष आतुर रहते हैं कि,—"मैंने आजतक कितना पैसा कमाया ? मेरे विषयमें अमुक मनुष्यने क्या भले बुरे वचन कहे ? मेरी स्त्री और बालबच्चोंकी क्या दशा होगी ?" इत्यादि इत्यादि उन लोगोंको यह जाननेका उत्साह बहुत ही कम रहता है कि—"ईश्वर क्या हैं ? उसके और हमारे क्या सम्बन्ध हैं ? मोक्षप्राप्तिका प्रधान मार्ग कौनसा है ? आदि।

अर्थार्थी भक्तोंके विषयमें एक बात विशेषरूपसे स्मरण रखनी चाहिये। उनमेंसे कितने ही मनुष्य तो ईश्वरसे फल प्राप्तिके लिये प्रार्थना करते हैं कि—"हे ईश्वर ! मुझे पुत्र दे।

हे भगवन्! मुझे पैसा दे, मेरे सौभाग्य-सूर्यको चमका दे, आदि। परन्तु क्या हम सच्चे अन्तःकरणसे ये प्रार्थनायें किया करते हैं? क्या हमें इस बातका विश्वास है कि ईश्वर हमारी प्रार्थनाओंको सुनता है?

इन तीनों भक्तियोंमेंसे किसी भी प्रकारकी भक्ति प्राप्त करनेके लिये आत्मपरीक्षाका मार्ग बहुत ही उत्तम है। प्रतिदिन हमें आत्मपरीक्षाके द्वारा यह जानना चाहिए कि हमारे दिन किस प्रकारसे व्यतीत होते हैं, पापके साथ युद्ध करनेमें हमें कितनी विजय प्राप्त होती है, हमने आज कितने शुभाशुभ कार्य्य किये हैं? आदि, जिससे हमें अपनी गम्भीर स्थितिका पता लग जाय। सारे संसारमें मनुष्य सबसे अधिक दुःखी और मूर्ख प्राणी है; और ऐसा कौनसा प्राणी होगा जो यह जानते हुए भी कि यह अग्नि है, इसमें पड़नेसे जलना अनिवार्य्य है— जान बूझकर भी उसमें कूद पड़े।

> अजानन् दाहार्त्तिं विशति शलभो दीपदहनम्
> न मीनोऽपि ज्ञात्वा बडिशयुतमश्नाति पिशितम्।
> विजानन्तोऽप्येतान् वयमिह, विपज्जालजटिलान्
> न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा॥

पतङ्ग दीपकमें कूद पड़ता है और मर जाता है, पर उसे इस बातका ज्ञान नहीं कि, दीपशिखामें जलनेसे क्या पीड़ा होती है। और मछलीको यह ज्ञान नहीं रहता कि आटेकी गोलीमें ही उसकी मृत्यु छिपी हुई है इसीलिए वह उसे खा लेती है, पर

शोक है ! कि भोगविलास, द्रव्यकी हानि और उनके नाशके परिणामोंको जानते हुए भी हम उनको नहीं छोड़ते ! ओह, मोहकी कितनी प्रबल शक्ति है !! (शान्ति शतक)

हमारी विलाससामग्री कितनी क्षणिक है और हम अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करनेका कितना प्रयत्न करते हैं ? आँख, नाक, कान, जीभ, स्पर्श आदि सब इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये क्या हम किसी भी बातकी त्रुटि रखते हैं ? पर तोभी उनका अन्तिम परिणाम क्या होता है ? इन्द्रियजन्य सुखोंका उपभोग करनेके कारण हमारी कैसी स्थिति हो गई है, क्या हम इस बातका ज़रा भी विचार करते हैं कि हम तो उच्च अधिकार लेकर उत्पन्न हुए थे और अब हमारी क्या गति हो गई है हमारी अधोगतिका कोई पारावार नहीं, इन्द्रियसेवा हमें सर्वनाशके मार्गमें पटक देती है। आँख, कान, नाक, जीभ आदि एक भी ऐसी इन्द्रिय नहीं जिसके तृप्त करनेके लिये कुछ भी कसर रहे। उनका भी वही फल मिलता है।

कुरङ्गसारङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथंन हन्यते, यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

मृग, हाथी, पतङ्ग, भ्रमर, मच्छर आदि अपनी केवल एक इन्द्रियको तृप्त करनेके लिए अपने प्राणतक दे देते हैं। तब पाँचों इन्द्रियोंका गुलाम मनुष्य उन सबको सन्तुष्ट करनेका प्रयत्न करके प्राण दे डाले तो उसमें आश्चर्य्य ही क्या है ? हरिण व्याधकी ध्वनिपर मोहित होकर अपने कानकी तृप्तिके लिये

अधीर हो उठता है। अपनी श्रवणेन्द्रियकी लालसाको तृप्त करनेके लिये ज्ञानशून्य होकर, जालमें फंसकर अपना सर्वनाश कर लेता है। हाथी पकड़नेवाले अपने साथ घरकी पली हथिनी लेकर जङ्गलमें चले जाते हैं। जङ्गली हाथी पली हथिनीके साथ अपने शरीरस्पर्शकी लालसा मिटानेके लिये व्याकुल हो जाता है। त्वचाके सुखकी आशासे उन्मत्त होकर वह उसके पास खड़ा होकर सूंडसे सूंड मिलाकर क्रीड़ाकौतुक करने लगता है। परिणाममें वह भी कैदी होकर चिरकालके लिये मुर्देके समान बांधकर रखा जाता है।

पतङ्ग दीपककी लौ देखकर उसके सौन्दर्य्यपर इतना मुग्ध हो जाता है कि वह उसमें पड़कर अपनी जान देकर ही शान्त होता है। आँखकी वासना तृप्त करनेका यही लाभ है। भौंरा पद्मकी गन्धपर मुग्ध होकर, पद्मके फूलपर मस्त होकर बैठ जाता है। सायंकाल होते ही पद्मकी पंखुरियाँ मुँदने लगती हैं, अगले दिनके प्रातःकाल तक वह उसीमें बन्द हुआ तड़पता रहता है। अन्दर ही तड़पते २ उसका प्राण निकल जाता है। वहां नाकही भौंरेकी मृत्युका कारण है। मछली अपनी जिह्वाके भोगके कारण अपने आपको भूल कर पानीमें लटकी कुण्डीपर लगे आटेकी तरफ दौड़ती है। और बिना देखे निगल जाती है। वह भी कितना कष्ट पाकर मौतके मुंहमें चली जाती है। हरिण कानको तृप्त करनेमें मारा गया। हाथी त्वचाकी तृप्तिके लिये मुर्दासा बन गया।

पतङ्ग आंखोंके भोगमें फंसकर नष्ट हो गया। भौंरा नाकके वशमें होकर प्राण दे बैठा। मत्स्य जीभके लोभमें मृत्युका ग्रास हुआ। यदि एक एक इन्द्रियके गुलाम होकर इतना कष्ट मिलता है तो जो पुरुष पांचों इन्द्रियोंके अधीन है उसकी दशा क्या होगी, इसपर एक बार तो विचार कर देखिये।

इन्द्रियरूपी अग्निमें भोगरूपी ईंधन देकर हम अपना समूल नाश कर लेते हैं, सब इन्द्रियाँ हमें सब ओरसे घरकर चोरोंके समान लूट लेती हैं। ये हमारी बड़ी दुर्दशा कर डालती हैं। जो पुरुष आत्मपरीक्षासे इन्द्रियजन्य भोगोंको दुख समझ लेता है, वह आँसू टपका टपकाकर कह उठता है कि, "हे भगवन्! यह भूखी जिह्वा मुझे एक ओर खींचती है, काम और पेट मुझे दूसरी ओर घसीटते हैं, और कान मुझे तीसरीही ओर खींच रहा है। आंख और नाक ये भी मुझे भिन्न भिन्न दिशाओंमें खींचे लिये जाती हैं। मुझे अपनी ये सब इन्द्रियां ही सौतोंकी तरह दुःख दे रही हैं।" कवि रामप्रसादने यही अनुभव करके कहा है कि—"मेरी पांचों इन्द्रियोंकी पांच वासनायें हैं, ऐसी दशामें मैं किस प्रकार अपना घर सम्हालूं?"

जो मनुष्य अपनी इस प्रकारकी स्थितिको समझ लेता है, और उससे छुटकारा पानेके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करता है, वही सच्चा आर्त्त भक्त है। आत्मपरीक्षा करनेसे उस भक्तिमें उसे सहायता मिलती है।

जिज्ञासु भक्त होनेके लिये आत्मपरीक्षा ही प्रधान उपाय

है। जो एकान्तमें बैठकर आत्मपरीक्षा करते हैं उन्हींके हृदयमें ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते हैं—"मैं कौन हूं—यहां किस लिये आया हूं? कहांसे आया? मुझे किसने भेजा है? भेजनेवालेके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? मेरे मातापिता कौन हैं? वे मुझे इतना स्नेह क्यों करते हैं? मुझे संसारमें ये सब भाई बन्धु किसने दिये? अग्नि हमें क्यों तपाती है? वायु हमारे शरीरको क्यों ठण्ढा करती है? पानी हमारी प्यास क्यों बुझाता है? इत्यादि प्रश्न उत्पन्न होकर ही मनुष्यको सत्यज्ञानकी ओर खींचते हैं। कुछ समयमात्र ही विचार करनेसे मनुष्यको यह ज्ञान हो सकता है कि, इस अखिल विश्वमें कोई ऐसी प्रेममयी सत्ता अवश्य है, जो यह सब कार्य्य करा रही है। ज्यों ज्यों मनुष्य अधिकाधिक उस (सत्ता) पर विचार करेगा, त्यों त्यों वह उसकी ओर आकर्षित होता जायगा और उसके हृदयमें उस सत्ताकी ओर एक प्रकारकी भक्ति उत्पन्न हो जायगी।

अर्थार्थी भक्त होनेके लिये भी आत्मपरीक्षा ही प्रधान उपाय है। आत्मपरीक्षा करनेसे ही हमें अपनी वास्तविक आवश्यकताओंका पता लगता है और जब मनुष्यको अपनी आवश्यकताओंका पता लग जाता है तो साथ ही साथ उसे यह भी मालूम हो जाता है कि, उसकी पूर्ति करनेवाला यदि कोई है तो वह ईश्वर है। एक तुच्छ वस्तुसे लेकर अनन्त मोक्षतक सब वस्तुएं मनुष्य ईश्वरसे मांग सकता है, जिससे मनुष्य ईश्वरके समीप

अपना दिल खोलकर रख देता है। यह आत्मनिवेदन ही भक्ति-मार्गकी सीढ़ी है। इसी प्रकार मनुष्य आर्त्त या अर्थार्थी होकर ही नहीं प्रत्युत सामान्य विपत्ति अर्थात् रोगव्याधि, चोर डाकू आदि-से पीड़ित होकर या सुख, कीर्ति आदि पानेके लिये भी यदि सच्चे अन्तःकरणसे ईश्वरसे प्रार्थना करता है, तब या तो उसकी आवश्यकताएं पूर्ण हो जाती हैं, या उसके मनमें इन ऐहिक सुख-भोगोंपर ग्लानि हो जाती है या फिर उसे आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती। मनुष्यकी याचना चाहे जिस प्रकारकी हो; यदि वह उसे सच्चे हृदयसे करेगा तो अवश्य उसे भक्ति-मार्ग मिल जायगा। तामसभक्त भी यदि शुद्ध एकाग्र अन्तः-करणसे ईश्वरसे प्रार्थना करे तो वह भी शीघ्रही धर्मात्मा हो जाता है और निःसंशय शान्तिको प्राप्त करता है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। (गीता)

श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि—"यदि कोई मनुष्य अन्य पदार्थकी प्राप्तिके लिये भी श्रीकृष्णकी भक्ति करे, तोभी ईश्वर उसे अपने चरण-कमलोंकी भक्ति बिना मांगे ही दे देते हैं। कृष्णदेव कहते हैं कि जो मनुष्य हमारा भजन करे और मोक्षको छोड़कर विषयसुख मांगता है वह मानो अमृत छोड़ विषकी याचना करता है। वह सचमुच मूर्ख है। पर मैं विज्ञ होकर भी उसे ये सांसारिक भोग क्यों कर दूं? मैं तो इसे वही अपने चरण-रूप अमृत देकर इस सांसारिक भोगरूपी विषको एकदम भुला देता हूं।

श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छाविधानं निजपादपल्लवम्— जो भक्त ईशके चरणको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न नहीं करते, प्रत्युत निष्काम भक्ति करते हैं, ईश्वर उनकी इच्छाओंको-वश करनेके लिये स्वयं अपने चरण दे देते हैं। (स्कंध ५ अध्याय १६ श्लोक २७)।

श्रीचैतन्य चरितामृतमें लिखा है कि, "मनुष्य चाहे जिस हेतुसे प्रभुकी भक्ति करे, पर अन्तमें उन सब इच्छाओंको त्यागकर प्रभुके चरण-कमलका दास बननेके लिये वह आतुर हो जाता है।"

उपरोक्त कथनकी पुष्टिके प्रमाणमें ध्रुवका उदाहरण सर्वोत्कृष्ट है। उन्होंने राज्यप्राप्तिके लिये ही ईश-आराधना प्रारम्भ की थी, पर प्रभु-प्रेमका आस्वादन होते ही उन्होंने ऐहिक सुखोंको लात मारकर, प्रभुभक्त होना स्वीकार किया।

ज्यों ज्यों सत्य, सहृदयता और तीव्र प्रेम मनुष्य-हृदयमें वृद्धि पाता है त्यों त्यों प्रार्थना भी शनैः शनैः भक्तिके रूपमें परिवर्तित होती जाती है। प्रारम्भमें किसी ऐहिक सुखकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य ईश्वरभक्ति करता है, पर ज्यों ज्यों ईश्वरपर उसका प्रेम बढ़ता जाता है त्यों त्यों उसके गुणोंका गान करनेमें मन अधिक मग्न होता जाता है, उसका नाम श्रवण करने मात्रसे हृदयसागरके अन्तर्गत एक अपूर्व आनन्द-तरङ्गका आविर्भाव हो आता है। और उसका मन प्रत्येक अवसरपर ईश्वरके गुणोंका गान करना चाहता है। जब इस प्रकारकी वृत्ति हो जाती है, तब

उसकी महिमा हृदयमें आप ही आप प्रगट होने लगती है, हृदय आनन्दके प्रवाहसे उछलने लगता है और अन्तःकरण ईश्वरके विजयसङ्गीतको गाने लगता है। जब यह चित्तवासना और भी दृढ़ हो जाती है; तब सब प्रार्थनाएं और स्तुतियां केवल बाहरी आडम्बर मालूम होने लगती हैं। उस समय केवल प्रभुके मुखके सामने बैठे हुए उसी मोहन रूपराशिका दर्शन करनेका ही जी चाहता है। इस अवस्थाको "ध्यान" या भगवत्-स्वरूप-चिन्ता या एकान्त भगवद्दर्शन कहते हैं।

इस स्थितिमें सारे संसारका कल्याण करनेवाली शिव—अनिर्वचनीय सुन्दर मोहन मूर्ति मनुष्यके हृदयमन्दिरमें प्रकाशित हो जाती है और मनुष्य शान्त और गम्भीर होकर मोक्ष-दाता श्रीचरणोंकी शरणमें आ जाता है।

जब इस प्रकारका प्रेम और भी दृढ़ हो जाता है तभी समाधि अथवा लय हो जाता है और मनुष्यके हृदयमेंसे अपने भिन्न अस्तित्वकी भावना नष्ट हो जाती है। इस अवस्थामें ईश्वरके समीप बैठनेकी भी आवश्यकता नहीं रहती। जिस प्रकार पतङ्ग दीपशिखापर आ गिरता है, उसी प्रकार मनुष्य ध्यान ही ध्यानमें ईश्वरका सौन्दर्य देखता हुआ उन्मत्त हो जाता है और उसीमें मग्न हो जाता है। ध्यानावस्थामें तो 'मैं और तू' की भावना भी रहती है, पर समाधिमें तो एक मात्र 'तू' की ही भावना रह जाती है। मनुष्यका अहंभाव प्रभुके स्वभावमें लीन हो जाता है। या 'मैं' और 'तू' दोनों भाव टूटकर एक विशेष अनिर्वचनीय सत्ताका आविर्भाव होता है।

श्रीचैतन्य स्वामीके मतानुसार भक्तिके पांच साधन।

'भक्तिकी साधना किस प्रकार की जाती है' इस विषयमें सनातन नामक शिष्यके प्रश्न करनेपर श्रीचैतन्य स्वामी कहते हैं :—

"सत्संग, प्रभुभक्ति, शास्त्राभ्यास, नामग्रहण और व्रजमें वास इन पाँचमेंसे किसी एककी भी साधना करे तो वह प्रभुप्रेम उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकता।

१—सत्संग

जिस प्रकार दुर्जनका संग भक्तिमार्गमें विघ्नकर है, उसी प्रकार सज्जन-संग भक्तिमार्गका भारी सहायक है। भक्तिशास्त्र-में हर जगह कहा गया है कि,—

सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरभृतां क्वचित्।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगोऽन्धवत्॥"

"दुष्ट और विषयी लम्पट मनुष्योंका साथ कभी न करो, क्योंकि अन्धेके पीछे चलनेवाला दूसरा अन्धा भी गढ़ेमें गिरता है। इसी प्रकार दुर्जनोंका सङ्ग तुम्हें भी नरकमें ले जायगा। (श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अध्याय २६ श्लोक ३)।

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्री र्ह्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत् सङ्गाद्याति संक्षयम्॥

असत सङ्गसे सत्यशुद्धि, मौन, बुद्धि लज्जा, यश, क्षमा, शम, दम, ऐश्वर्य सब नष्ट हो जाते हैं।

"आत्म-संयम करनेमें अशक्त, मोहमें रंगे हुए, और अपने शरीरको ही आत्मा जाननेवाले, स्त्रियोंके हाथोंमें खिलौनेके समान नाचनेवाले अत्यन्त शोचनीय पुरुषोंका संग कभी मत करो ।"
(श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३ अध्याय ३१ श्लोक ३४)

"ईश्वर-भक्तिसे विमुख मनुष्योंके अनर्थ-कारक संगमें रहनेकी अपेक्षा तो अग्निकी ज्वालासे तपे लोहपिंजरमें रहना ही उत्तम है।" (कात्यायनसंहिता)।

हमारी धार्मिक पुस्तकें तो सत्संगकी महिमा और भक्तिके लिये उसकी आवश्यकताको बहुत ही बलके साथ एक आवाजसे पुकार रही हैं।

वृहद् नारदीयपुराणमें कहा है कि:—
भक्तिस्तु भगवद्भक्त संगेन परि जायते।

"भक्तके साथ रहनेसे भक्ति बढ़ती है।" (अध्याय ४—श्लोक ३३)।

"जिस प्रकार सूर्य्य अपनी किरणोंसे अंधकारका नाश करता है उसी प्रकार पवित्र सज्जन लोग अपने वचन-सूर्य्यसे मनके अंधकारको दूर करते हैं।" (अध्याय ४ श्लोक ३७)।

श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि—साधु पुरुषोंके समागममें मेरी शक्ति और गुणोंके विषयमें सदा चर्चा हुआ करती है। जिससे हृदय और कानोंको बड़ा आनन्द होता है। इसलिए जो कोई मनुष्य उसको सुनता है उसके मनमें

प्रथम तो मेरे प्रति श्रद्धा, फिर रति और अन्तमें भक्ति उत्पन्न होती है। (३, २५, २५,)।

"जहांतक मनुष्यका हृदय भक्तके चरणकी रजसे पवित्र नहीं हो जाता वहांतक वह सब सांसारिक इच्छाओंका नाश करनेवाले ईशचरणोंका स्पर्श नहीं कर सकता।" (श्रीमद्भागवत ७-५-३२)।

इतना पढ़नेपर पाठकोंके मनमें आपही यह प्रश्न उठेगा कि साधुओंकी परीक्षा किस प्रकार की जाय? भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही उसके लक्षण बतलाए हैं, वे निम्नांकित हैं—

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रणता : समदर्शनाः।
निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥

"जो मनुष्य सब प्रकारसे निश्चिन्त, सदा नम्र और निःपक्ष-पात रहते हैं, जिनका मन मुझपर ही आसक्त रहता है, जिनका ध्यान किसी भी वस्तुकी ओर आकर्षित न होता हो, जिनके हृदयमें अहंभाव न हो जो सुखदुःखमें भेद-भाव न गिने, एवम् जो दूसरेके पाससे कुछ भी ग्रहण करनेकी इच्छा न रक्खे, वही सच्चा साधु है।" (श्रीमद्भागवत ११-२६-२७)।

"और जो दुःख सहन करनेमें शक्तिमान, सब प्राणियोंपर समान भाव रखने वाले, शांत और चरित्रवान है, वही सच्चा साधु है।" (श्रीमद्भागवत ३-२५-२१)।

कोई कोई कहेंगे कि, ऐसे आदर्श मनुष्य कहांसे मिल सकते हैं? वास्तवमें ऐसे मनुष्य बहुत ही दुर्लभ हैं। पर

यदि हमारे मनमें ऐसे महात्माओंको पा लेनेका भाव है तो परिश्रमके साथ ऐसे मनुष्योंकी खोज करनेपर अवश्य ही उनकी इच्छा पूर्ण होगी। हममेंसे बहुतसे श्रीरामकृष्ण परमहंस या नवद्वीपके चैतन्यदास बाबाजीके दर्शन सरलतासे पा सकते हैं। और आजकल भी साधु महात्मा इतने दुर्लभ नहीं। केवल हमें ही उनके समागम और दर्शन करनेकी तीव्र इच्छा नहीं होती। गाजीपुरके पहाड़ी बाबा और बनारसके भास्करानन्दसे मिलना इतना कठिन नहीं। साधु महात्मा देशभरमें भ्रमण किया ही करते हैं। इसलिये जिसे मिलनेकी इच्छा हो वह चाहे जब मिल सकता है।

यदि आपको कोई ऐसे आदर्श या साधु न मिलें, तोभी ऐसे मनुष्य तो अवश्य मिलते होंगे जिन्होंने अपने जीवनमें उपरोक्त गुणोंमेंसे कितनोंका ही साधन किया है। ऐसे मनुष्योंके सङ्गसे आध्यात्मिक उन्नतिमें बहुत सहायता मिलती है। किसी भी मनुष्यको जो सच्चे अन्तःकरणसे ईश्वरका नाम लेता है, हमें अपना आदर्श बना लेना चाहिए, उसीके चरणोंकी रजको हमें अपने मस्तकपर लगाना चाहिए। ऐसे मनुष्यका सङ्ग हमारे चरित्रको अवश्य उन्नत बना देगा।

नारदमुनिने भी अपना एक नया जीवन प्राप्त किया था। नारदमुनि स्वयम् दासीपुत्र थे। उनके मालिकने उन्हें साधुओंकी सेवा करनेके लिये नियत किया था। साधुओंके आगमके प्रभावके विषयमें उन्होंने व्यासदेवसे कहा था कि

"मैं उन साधुओंकी आज्ञा लेकर उनका जूठा भोजन खाता था, जिससे मेरे सब पाप नष्ट हो गये, इस प्रकार मेरा हृदय पवित्र हो जानेपर मुझे प्रभुभक्ति करनेकी इच्छा हुई। उनकी कृपासे मुझे श्रीकृष्णके गुणगान श्रवण करनेका सौभाग्य हुआ। मेरे हृदयमें प्रभुके प्रति भक्तिभाव उत्पन्न हो गया। इस प्रकार शरद्, ग्रीष्म और वर्षा सब ऋतुओंमें और प्रातः सायं सदा महात्माओंके मुखसे मैं हरिका भजन, कीर्त्तन सुनता रहा जिससे मेरे चित्तमें भक्ति उत्पन्न हो गई।" (श्री० म० भा० १-५, २५, २६, २८)

श्री चैतन्यके शिष्य श्री हरिदास बेनापोलके जङ्गलमें हरि भक्ति करते थे। उनकी भक्तिको भंग करनेके लिये रामचन्द्र खां ने एक वेश्याको नियुक्त किया। वह स्त्री प्रतिदिन संध्याकालको हरिदासकी कुटीके द्वारके सम्मुख आकर बैठती और मनमें विचार करती थी कि, जिस समय हरिदास पूजा और भजन कर चुकेंगे, तब जाकर उनको धर्मसे डिगा दूंगी। पर हरिदास सारी रात्रि भजनमें ही व्यतीत करते थे और उस स्त्रीको अन्तमें हारकर सवेरे वापस आना पड़ता था। इस प्रकार दो रात्रि व्यतीत हो गईं और तीसरी रात्रिको तो प्रातःकाल होनेके पूर्व ही वह स्त्री पूर्णरूपसे पराजित हो गई और आँसुओं की वर्षा करती हुई वह हरिदासके चरणोंपर गिर पड़ी और अपने असंख्य पापोंसे छुटकारा पानेके लिये प्रार्थना करने लगी। उस प्रातःकाल भक्त समागमकी महिमाका प्रभाव उस

वेश्याके चरित्रमें भी देख पड़ा, क्योंकि एक वेश्या जो एक समय सारे जनसमाजमें घृणाकी दृष्टिसे देखी जाती थी वही आज सत्संगके प्रभावसे एक पवित्र वैष्णवभक्त बन गई। इतना ही नहीं, पर उसका नाम एक पवित्र साधुके नामकी तरह चारों ओर बड़ी भक्तिके साथ लिया जाने लगा और अच्छे अच्छे वैष्णव दूर दूरसे उसके दर्शनके निमित्त आने लगे। श्रीरामकृष्ण परमहंसके कारण बहुतसे लोग संसारसे विरक्त होकर अध्यात्ममें लग गये हैं। ऐसे बहुतसे दृष्टान्त हैं।

जहां साधु न मिलें, वहां अपने मित्र समाज ही में अध्यात्म विषयक चर्चा करनेसे सत्संगके समान ही लाभ होता है और आध्यात्मिक उन्नति भी होती है।

२—श्रीकृष्ण सेवा

श्रीकृष्ण सेवाके बहुतसे अर्थ हैं। उसका अर्थ ईश्वरसेवा होता है। श्रीचैतन्यदेवने पांच प्रकारकी भक्तियां गिनाते हुए "श्रीकृष्ण-सेवा" का अर्थ "श्रद्धा और भक्तिके साथ कृष्णकी प्रतिमाका पूजन" ही किया है। मूर्त्तिकी ही श्रद्धापूर्वक सेवा करनेसे भक्ति बढ़ती है, इसके भी बहुतसे उदाहरण हैं। कृष्णमूर्त्तिसे तात्पर्य्य यद्यपि श्रीचैतन्यदेवका कृष्णकी भक्तिका ही है, परन्तु मनुष्य जिस देवताका भी भक्त हो उसी देवताकी मूर्त्तिकी सेवा करके भक्तिका लाभ कर सकता है। प्रसिद्ध कवि रामप्रसाद, राजा रामकृष्ण और श्रीरामकृष्ण परमहंस मा कालीकी मूर्त्तिकी सेवा करके ही परम उपासक और भक्त बन गये। परम-

हँस श्रीरामकृष्णको कालीकी उपासना करते करते प्रभुकी अपूर्व भक्तिका प्रसाद प्राप्त हुआ था। वे भक्तिकी अपूर्व स्थितिपर पहुंचकर कभी माताको मनमाना सुगन्धित पुष्प चढ़ाते और पुष्पोंका हार पहनाकर सजाते थे और कभी उसके चरण कमलमें यव, पुष्प और बिल्व आदि चढ़ाकर आनन्दसागरमें मग्न हो जाते थे। उस समय रामप्रसाद, कमलाकान्त और नरेशचन्द्र-आदि भक्तकी बनाई हुई स्तुतियां गाते थे और किसी समय हाथ जोड़कर आवेगसे रोकर पुकारते थे :—

"हे माता ! मुझपर दयाकर ! मा, तूने ही रामप्रसादपर कृपा की, तब मुझपर कृपा क्यों नहीं करती ! मा, मुझे शास्त्र कुछ भी नहीं आते, और मा, मैं पण्डित भी नहीं, मा, मैं तो कुछ जानता नहीं और न मैं जानना चाहता हूं। माता ! क्या तू एक बार भी मुझपर दया करेगी ? मा, अपना एक बार दर्शन दे ? मेरा जीवन मुझे असह्य मालूम होता है, मुझे अष्ट महासिद्धियां नहीं चाहिए, लोककीर्ति भी नहीं चाहिए, मानापमानकी मुझे परवा नहीं, मुझे केवल आवश्यकता है तेरे दर्शनोंकी।

कितना सुन्दर जीवन है ! कितने उन्नत भाव हैं !! कालीमाताकी भक्तिसे ही उनके हृदयमें केवल निष्काम प्रेममय भक्तिकी धारा निरन्तर बहती थी। रामप्रसाद कवि भी इसी प्रकार काली पूजा करते करते उन्मत्तभावसे बोल उठते थे—"हे शिव ! हे महादेव ! तुम और तुम्हारी अर्द्धाङ्गिनी दोनों पागल हो रहे हो। और यह रामप्रसाद भी तुम्हारे चरणकमलोंके पीछे पागल हो रहा है।"

मूर्त्तिकी पूजा करनेसे भक्ति प्राप्त होती है, इस सिद्धान्तकी पुष्टिमें अम्बरीष राजाका उदाहरण बहुत उत्तम है ;

"उसने अपनी आत्माको श्रीकृष्णके चरणकमलमें ध्यान करनेके लिये, जिह्वाको प्रभुके गुण गानेके लिये, हाथोंको हरि-मन्दिरको साफ सुथरा रखनेके लिये और कानोंको श्रीहरिके गुणोंके सुननेके लिये लगा दिया था और उसने अपने नेत्रों-को श्रीहरिके दर्शन करनेके लिये, अपने शरीरको श्रीकृष्णके भक्तोंकी सेवा करनेके लिये और अपनी नाकको श्रीकृष्णपर चढ़ी हुई तुलसीकी सुवास लेनेके लिये और जिह्वाको भोगमें लगे अन्नादिके आस्वादनमें लगा दिया। वह अपने चरणों-को मंदिरके आसपास प्रदक्षिणा करनेमें और मस्तक-को प्रभुके आगे झुकानेमें लगाता था। वह जो कुछ सुखका उपभोग करता वह सुख पानेके लिये नहीं अपनी इंद्रि-योंकी तृप्तिके लिये नहीं, बल्कि प्रभुकी सेवा करनेके लिये और अपनेको प्रभुका दास अनुभव करनेके लिये ही करता। उसको भक्तोंकी सङ्गति बहुत ही भाती थी। ऐसा ही करते करते उसका घरवार, स्त्री, पुत्र, मित्र, हाथी, घोड़े, रथ, रत्न, जवाहि-रात, खजाने आदि किसी भी वस्तुमें आसक्ति न रही।" "श्री म० भा० ६-४-१८- २० २७"। इसी प्रकार करते करते वह उत्तम भक्तिको प्राप्त होकर सदाके लिये प्रभु सेवामें ही लीन हो गया।

एक ग्राममें एक धोबी रामकृष्ण नामका रहता था। उसके मकानमें एक राजराजेश्वरकी मूर्त्ति थी जिसकी कि वह प्रति-

दिन नियमसे पूजा करता था। इस प्रतिमाकी अव्याहत पूजा करनेसे उसके हृदयमें भक्तिका विकास हुआ। एक दिन दोपहरके समय उसके मकानमें बहुतसे पुरुष भजन कर रहे थे, उनकी आवाज़ मेरे कानमें पड़ी। मैं यह देखनेके लिये वहां गया कि, आज इस मकानमें कैसा उत्सव है। उस समय मैंने जो कुछ देखा, वह आजीवन नहीं भूल सकता। वहांपर मैंने देखा, कि रामकृष्णकी पोती जमीनपर पड़ी है और राजराजेश्वरके मन्दिरकी प्रदक्षिणा करती हुई और प्रभुके गुण गाती हुई एक मण्डली उसको घेरे खड़ी है। रामकृष्णकी आंखोंसे आंसुओंकी धारा बह रही थी। कुछ समयतक तो वह मण्डलीके साथ साथ गाता था और बीच बीचमें लड़कीके पास आकर प्रभुके चढ़ाये हुए प्रसादमेंसे थोड़ा थोड़ा उसे देता था और ईश्वरसे हाथ जोड़कर कहता था कि,—"जो तुझे इस लड़कीको लेना ही है तो इसी क्षण ले ले, क्योंकि यह स्थल वृन्दावनके समान पवित्र है।" जब मैंने सुना कि, इस लड़कीको हैजा हो गया है और यह सब कार्य्य उसीके निमित्त किया जा रहा है, तब मेरे आश्चर्य्यका पार न रहा। कुछ समयतक कीर्तन करनेके पश्चात् लड़कीको वे पुनः कमरेमें ले गये। और कुछ ही घण्टों पश्चात् हमें समाचार मिला कि, लड़की बिलकुल आराम हो गई है।

नियमित घरकी सेवा और यज्ञ आदि करनेसे, भी निकृष्ट श्रेणीके पुरुषोंको भक्तिसाधनमें सहायता मिलती है। जो

लोग मूर्त्ति-पूजाको नहीं मानते हैं, उनकी "श्रीकृष्णसेवा" प्रकृतिमें ही ईश्वरके दर्शन करना उनका ध्यान करना है। सृष्टिकर्त्ताकी इस सृष्टिकी ओर प्रकृतिके महान् कार्य्यको देखकर किसका मन आनन्द और आश्चर्य्यमें मग्न न होगा? ईश्वर सदा वाह्य जगतमें अपना ही रूप व्यक्त करते हैं। ऋषियोंने अग्नि, वायु, सूर्य्य आदि सब ईश्वरीय शक्तिके भिन्न भिन्न रूपोंमें ईश्वरीय शक्तिकी अर्चना की है। वेदमें इन्हीं प्रकारकी शक्तियां हैं। स्तुतियोंसे जो मनुष्य प्रकृतिमें प्रगट हुई ईश्वरीय शक्तियोंका अभ्यास करनेमें लगे रहते हैं, वे ही भक्त प्रभुको पाकर कृतार्थ हो जाते हैं। पाश्चात्य महानुभावोंमें कवि वर्ड्सवर्थके समान दूसरे किसीने भी प्रकृतिमें परमेश्वरका इतना साक्षात्कार नहीं किया। उसने प्रकृतिमें प्रभुका साक्षात्कार किस प्रकार किया, वह उसके एक्सकर्सन नामक काव्यमें स्पष्ट झलकता है। पहलेके आर्य्यऋषि प्रकृतिमें परमेश्वरके विराट्रूपका दर्शन पूर्ण रीतिसे करते थे। श्रीमद्भागवतमें प्रभु-प्राप्तिका एक उत्तम उपाय बतलाया है :—

"आकाश, वायु, अग्नि, जल, तारा, प्राणीमात्र, चारों दिशा, वृक्ष, नदी और सातों समुद्र इनको ही प्रभुका विराट् स्वरूप मान कर हम साष्टांग नमस्कार करते हैं।" (११-२-१५)

हम जिसे जड़ चेतन वनस्पति सब प्रदार्थोंके भीतर देखते हैं उसी ज्योतिर्मय प्रभुकी ज्योतिसे सब प्रकाशित हैं। उसीके प्रकाशसे सब जगत् प्रकाशित है। जलमें हरि, स्थलमें

हरि, चन्द्रमें हरि, अग्निमें हरि, वायुमें हरि, यह सभी भूमण्डल हरिमय है।

सत्य भक्तिसे गद्गद् होकर हम प्रभुका दर्शन करके कहने लगते हैं कि, "भगवन्, जिस प्रकार एक ही सूर्य्यकी अनन्त किरणें सारे संसारको प्रकाशित कर देती हैं, उसी प्रकार तेरा अनन्त प्रेम, पति-पत्नीके बीचमें दाम्पत्य प्रेम, और माता और पुत्रके बीचमें वात्सल्यरूपसे व्यक्त होता है।"

गगनभेदी पर्वत शिखर, गहरे आकाशकी नीलिमा आदि जहां भी देखें वहां तू ही दिखाई देता है, सूर्य्यकी किरणोंमें भी तेरा ही शुभ्र प्रकाश है और चन्द्रमा भी तेरी ही ज्योति है, मेघमें तेरी ही कान्ति दमकती है, मैं जहां जाता हूं तहां तू ही तू है।

३—शास्त्राभ्यास

धर्मग्रन्थोंके श्रवणसे और अध्ययनसे भक्तिकी विशेष पुष्टि होती है। जिनमें ईश्वरके गुणोंका वर्णन हो, या जिनमें भक्तोंके जीवनचरित्रोंका वर्णन हो, ऐसे ग्रन्थोंके पढ़नेसे भी मनुष्यका चित्त भक्तिमार्गमें अग्रसर हो जाता है। श्री-चैतन्यदेवने उपरोक्त पांच साधनोंमें भागवत शास्त्रके अध्ययन-को भी गिनाया है। इस संसारके इतिहास, विज्ञान आदिके सब ग्रन्थ ईश्वरकी महिमाका गान करते हैं और भक्तिकी वृद्धि करते हैं इसलिये इन सबका 'शास्त्र' शब्दमें ही समा-वेश होता है। गेलन नामक वृद्ध विज्ञानशास्त्रीको पहले ईश्वर-

पर विश्वास न था। शरीरशास्त्रके अन्तर्गत मानव-देह-धर्मका अभ्यास करते करते उसने शरीरकी सुन्दर और आश्चर्य्यकारक रचना देखी, और वह नसें, हड्डियां, स्नायु वगैरहका संगठन देखकर चकित हो गया, तभीसे ईश्वरके प्रति उसका पूर्ण विश्वास हो गया, अन्तमें वह एक सच्चा भक्त बन गया। उसने ईश्वरकी महिमा दिखानेके लिये एक अत्यन्त उत्तम ग्रन्थ भी रचा। जिन लोगोंको सत्संग दुर्लभ है उनकी इस त्रुटिको शास्त्राभ्यास कई अंशोंमें पूरा कर देता है।

४—नामकीर्त्तन

ईश्वरके नामका स्मरण, कीर्तन और जप अथवा उसका श्रवण करना ही भक्ति-पथमें बड़ा सहायक है। इस विषय-पर जितना जोर गौरांग चैतन्यने दिया है उतना अन्य किसीने नहीं दिया है। वे बार बार कहते थे कि,

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

"ईश्वरका नाम ही सब कुछ है इस कलियुगमें इसके सिवा उद्धारका कोई दूसरा चारा नहीं।"

सुबुद्धिरायने जब श्रीचैतन्यप्रभुसे पापसे छूटनेका उपाय पूछा, तो उन्होंने कहा कि, "एक ही बार प्रभुका नाम लेनेसे सब पाप क्षय हो जाते हैं और दूसरी बार लेनेसे श्रीकृष्ण अपने ही वश हो जाते हैं।"

हरिदास नामक श्रीचैतन्यके शिष्य ईश्वरके गुणोंके सम्बन्ध-

में पण्डितोंके साथ वार्त्तालाप कर रहे थे। उनमेंसे एकने कहा कि कृष्णका नाम स्मरण करनेसे पापका नाश हो जाता है, दूसरेने कहा कि नामसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, पर हरिदास कहते हैं कि नामके ये दोनों ही फल नहीं। उसका नाम लेनेसे उसपर प्रेम उत्पन्न होता है। पापका क्षय और मोक्षकी प्राप्ति तो ऐसे ही गौण लाभ हैं जैसे सूर्य्यका उदय होनेसे अन्धकारका नाश होता है, पर साथ ही सारे संसारके पदार्थ भी दीखने लगते हैं।

ऋषभका पुत्र कवि जनकको कहता है कि "जो मनुष्य हरिके नामोच्चारणको ही अपने सम्पूर्ण जीवनका प्रधान उद्देश्य बना लेता है, उसके हृदयमें अनुराग उत्पन्न होता है और वही हृदय द्रवीभूत हो जाता है। वह मनुष्य कभी हँसता है, और कभी रोता है, कभी चिल्लाता है और कभी नाचता है, वह प्रभुके प्रेममें पागल हो जाता है। नामकीर्त्तन करते करते प्रेमका सञ्चार हो जाता है और पापका नाश हो जाता है।"

(श्री० म० भा० ११-२-४०)

पद्यावलीमें कहा गया है कि, "हरिका नाम ही सबसे उत्कृष्ट है। यह नाम सारे संसारका भूषण है। क्योंकि इस नामके स्मरणमात्रसे ही पापका क्षय होता है। यह नाम संसार-सागरसे पार करनेमें नौकारूप है।"

श्रीहरिके नामका स्मरण करनेसे हृदयरूपी दर्पण निर्मल हो जाता है। उसका नाम पापवासनाओंकी दावाग्निको

शीतल कर देता है और जिस प्रकार चन्द्रके उदयसे केतकीका फूल विकसित हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वरके नामसे मनुष्यके मनमें रहनेवाला पुण्य विकसित हो जाता है। अहो! हरिके नामोच्चारणसे ही नववधूके समान मनुष्यके हृदय रूप अन्तःपुरमें ब्रह्मविद्या प्रगट होती है, मनुष्यजीवनमें हरिके नामसे हर्षका समुद्र उमड़ आता है, हरिके नामका प्रत्येक अक्षर अमृतमय सुख और सुगन्धसे भरा है। इससे आत्मा आनन्द-सागरमें मग्न हो जाती है।

सब बन्धुवर्ग सम्मिलित होकर प्रतिदिन किसी स्थानपर ईश्वरका भजन करें तो इससे बढ़कर दूसरा कोई आनन्द नहीं। सचमुच उस समय हृदयमें आनन्दका सागर उमड़ आता है और हृदयमें शान्ति प्राप्त होती है। संसारकी बाधायें निवृत्त हो जाती हैं। इस प्रकार प्रतिदिन करनेसे मनुष्य परमपदको प्राप्त होता है।

गौरांग अपने शिष्योंको उपदेश करते हुए कहते हैं :—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥

तिनकेसे भी अधिक नम्र होकर वृक्षसे भी अधिक सहन-शील होकर, अपना मान त्याग और, दूसरेका आदर कर सदा हरिका स्मरण करना चाहिये।

भजन करते समय या नामोच्चारण करते समय उस नामसे परमात्माकी जो शक्ति लक्षित होती हो उसीका सदा चित्तमें

स्मरण करते रहना चाहिये, नहीं तो नामकीर्त्तनसे कोई भी लाभ नहीं, केवल शौक पूरा करनेके लिये हरिका नाम स्मरण करनेसे कुछ भी लाभ नहीं होता।

जो मनुष्य प्रभुके जिस नामका उच्चारण करना चाहे उसे उसके अर्थको पूर्णतया जान लेना चाहिये और विशेषकर नामोच्चारणमें तो यह बात अत्यन्त आवश्यक है। महानिर्वाण तन्त्रमें भी कहा है कि :—

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं यो न जानाति साधकः।
शतलक्षं प्रजप्तोऽपि तस्य मन्त्रो न सिद्ध्यति॥

म० नि० ३। ३१।

"उपासक यदि मंत्रके अर्थ और उसकी शक्तिको न जानता हो, तो फिर चाहे वह उसे लाखों बार क्यों न जपे, उससे लेशमात्र भी फल नहीं मिलता।"

इस कार्य्यमें किसी योग्य गुरुके अधीन मन्त्रदीक्षित हो जानेसे बहुत लाभ होता है। जिनको योग्य गुरु मिल जाते हैं, वे सचमुच बड़े भाग्यशाली हैं। पर जिस मनुष्यको ऐसा कोई गुरु न मिले, उसे चाहिये कि वह अपने इच्छानुसार ईश्वरके किसी एक नामका सच्चे हृदयसे जप किया करे, क्योंकि, ईश्वर ही सच्चे भक्तको अवश्य योग्य गुरु प्रदान करता है।

यह जप किस प्रकार करना चाहिये, इसकी भी ऋषियोंने कई विधियां बतलाई हैं। मुण्डकमें लिखा है :—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

"ॐकार उपासकका धनुष है, आत्मा उसका बाण है और ब्रह्म ही उसका लक्ष्य है, स्थिर मनसे इसे बाणसे सावधान होकर बेंधना चाहिये। जिस प्रकार तीर अपने लक्ष्यमें घुस जाता है उसी प्रकार आत्मा भी अपने लक्ष्य ब्रह्ममें लीन हो जाय। (मुण्डकोपनिषद्)।

जप करनेके लिये सदा स्थिर मन रहना चाहिये। मनु भगवान् भी जप सिद्धिके विषयमें कहते हैं :—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
मनु०। २। ८५।

"केवल कर्मकाण्ड यज्ञ आदि करनेकी अपेक्षा ऊंचे स्वरसे ईश्वरका नामोच्चारण करना दशगुना श्रेष्ठ है और धीरे स्वरसे उसका नामोच्चारण करना सौगुना फलदायक है और केवल मनहीमें उसका जप करना सहस्रगुना उत्तम माना गया है। इस प्रकार जप तीन प्रकारका है। एक ऊंचे स्वरसे, दूसरा उपांशु, अर्थात् धीरे धीरे और तीसरा मानस।

"ब्राह्मण स्वयं यज्ञ करे या न करे तोभी केवल जप करनेसे वह मोक्ष पा लेता है। सब प्राणियोंके प्रति मैत्रीका भाव रखनेवाला ही ब्राह्मण है।" (मनुस्मृति २। ८७)

जप करनेके लिये नीचे लिखे समय सर्वोत्कृष्ट हैं :—

१—प्रातःकालसे कुछ पूर्वका समय ब्राह्म मूहूर्त्त कहलाता है। यह समय जपके लिये अत्युत्तम है। धार्मिक मुसलमान भी कहते हैं कि—"इस समय प्रातःकालीन पवनकी लहरें उसके बन्दोंके पास खुदाका पैगाम ले जाती हैं और उसके बन्दोंका पैगाम खुदाके पास पहुंचा देती हैं।"

२—मध्यरात्रि।

३—सायंकाल।

कुलार्णव तंत्रके अनुसार जप करनेके लिये नीचे लिखे विशेष स्थल सर्वोत्तम हैं। "१. पवित्र स्मृतिका कोई स्थान, २. नदीका किनारा, ३ गुफा, ४. पर्वकी चोटी. ५. नदियोंका सङ्गम, ६. पवित्र जङ्गल, ७. एकान्त वाटिका, ८. विल्ववृक्ष वा किसी टेकरीका तल, ९. मन्दिर, १०. सागर-तट, ११. अपना घर १२, जहां मनुष्यके मनको शान्ति मिले ऐसा कोई भी स्थान।" इसी ग्रन्थमें नास्तिकोंके स्थान, दुश्चरित्र मनुष्योंके गृह और हिंसक प्राणियोंके, वासस्थान जपके योग्य नहीं बतलाये है।

सच्चे अन्तःकरणसे किये गये जपका कितना फल होता है इसका अनुभव कबीर साहबने बहुत अच्छा किया है। वे कहते हैं :—

कबीर "तू तू" करते तू भूया "मुझ" रहि नहीं।"
उजियारो तेरे नामपर जित देख तित तू॥"

"अहा! कबीर तो "तू, तू" करता हुआ तेरे हीमेंलीन हो गया है। धन्य है तेरे नामकी महिमा!! कि, चाहे जिस ओरको मैं जाऊं वहां तू ही तू दृष्टिगोचर होता है।"

कबीर "तू तू" करते तू भूया, मुझमें रहे समाय।
तोहि माँहि मिल रहा, अब मन अनत न जाय॥

"हे प्रभु! "तू तू" करते करते कबीर तुझीमें मिल गया। और अब तू और मैं एक हो गया हूं। अब मेरा मन तुझे छोड़ अन्यत्र नहीं जाता।

जप करनेसे भक्तिकी ऐसी ही अवस्था हो जाती है। उसे ईश्वरके सिवा और कुछ नहीं दीखता। उसके लिये सारा ब्रह्माण्ड ही प्रभुका विराट् रूप देख पड़ता है।

५—तीर्थवास

पवित्र तीर्थस्थानोंमें रहनेसे अथवा वहांकी यात्रा करनेसे भक्तिभाव उत्पन्न होता है। तीर्थस्थान पवित्र क्यों कहा जाता है, इसके विषयमें काशीखण्डमें कहा है कि:—

प्रभावादद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान् मुनीनांच तीर्थानां पुण्यता स्मृता॥

भूमिके अद्भुत प्रभाव, पानीके असाधारण गुण और साधु सन्तोंके निवाससे तीर्थस्थानोंको पवित्र माना जाता है।

ज्वालामुखी तीर्थमें पर्वतकी चोटी परसे निकलती हुई अग्निकी ज्वाला, सीताकुण्डके गर्म जलका झरना, केदारनाथकी बर्फसे ढकी हुई चोटियां और हरद्वारमें पवित्र जलवाली भागीरथीका सुन्दर दृश्य देखकर किसका हृदय परमेश्वरके प्रति भक्तिसे भर नहीं जाता? ऐसा कौन है जिसके मनमें वृन्दावनमें जाकर श्रीकृष्णका विचार करनेसे, नवद्वीपमें गौरांग

चैतन्यके कार्य्योंका स्मरण करनेसे, गयामें बोधिवृक्षके नीचे बैठे हुए समाधिमें मग्न भगवान् बुद्धकी कल्पना करनेसे और अयोध्यामें श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करनेसे, पवित्र विचारोंका आविर्भाव न हो जाय। ये स्थल केवल पवित्र स्मृतियोंके लिये ही उपयोगी नहीं हैं, बल्कि कितने ही मनुष्य यहां आकर सन्त-समागम करके अपूर्व ज्ञान-लाभ करते हैं।

आत्मसमर्पण

श्रीमद्भागवतमें भगवानतक पहुंचनेका प्रधान उपाय यह बतलाया गया है किः—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतः स्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तम्॥

मन, वचन, काय बुद्धि, आत्मा, प्रकृति और इन्द्रियोंसे जो कुछ भी कार्य्य करो वह सब श्रीकृष्णको अर्पण कर दो। (११-२-३६)।

श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं किः—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥

जो कुछ भी तू करता है, जो कुछ तू खाता है, जो कुछ तू यज्ञ करता है, जो कुछ तू दान देता है, जो कुछ तू तप करता है, हे अर्जुन! वह सब मुझे ही अर्पण कर दे। जो व्यक्ति काय, वाणी, मन आदिके सब संकल्प भगवानको अर्पण कर देते हैं उन्हींके हृदय पवित्र और भक्तिसे पूर्ण हो जाते हैं। हम जो कुछ करें,

कहें और विचारें वह सब कुछ भगवानके लिये हो, भगवानको अर्पण किये बिना कुछ कार्य्य न करें, कोई वाक्य न कहें, किसी विचारको मनमें स्थान न दें। यदि एक बार भी ऐसा संकल्प दृढ़ कर लें तो आपसे आप हृदय भक्तिसे भर जाता है। जो सभी बातोंमें भगवानका स्मरण करे तो वह भगवानके प्रति खिंचे बिना रह नहीं सकता।

भागवतमें श्रीकृष्ण भगवानने उद्धवको भक्ति विषयका बड़ा ही उत्तम उपदेश दिया है। उसीका उल्लेख करके हम इस विषयको समाप्त करेंगे। श्रीकृष्ण कहते हैं :—

"जो मनुष्य मेरी कथाको श्रद्धापूर्वक सुनता है, जो मेरा भजन करता है, जो सच्चे हृदयसे मेरी भक्ति और स्तुति करता है और शुद्ध भावोंसे मेरी पूजा करता है, मेरे भक्तोंपर प्रीति रखता है, सब प्राणियोंमें मुझे ही खोजता है, अपने शरीरके अङ्गोंको मेरे लिये हिलाता है, मेरे गुणोंको गानेके लिये बोलता है, अपना मन मुझे अर्पण कर देता है, जो सुख, वैभव आदिकी इच्छासे रहित है और यज्ञ, दान, तप आदि सब मुझे अर्पण कर देता है, इतना ही नहीं जो अपने आपतकको मुझे समर्पण कर देता है वही मेरी भक्तिको पाता है। और उसको पालेनेपर फिर उसकी कामनाके योग्य कोई भी पदार्थ शेष नहीं रह जाता।" (श्रीम० भाग० ११-६-२० से २४ तक)।

मनकी एकाग्रता

बिना मनको एकाग्र किये ईश्वरभक्ति नहीं हो सकती।

भक्तिको सफल करनेके लिये एकाग्रता एक अत्यन्त आवश्यक उपाय है। भक्तका मन ही भक्तिके मार्गमें एक भारी बाधा है। हम अपने विचारमें मग्न हैं, चित्त-विक्षेप होता है, मन कहींका कहीं चला जाता है, सब सोचा सोचाया नष्ट हो जाता है। हममेंसे सभीको इस बातका अनुभव हुआ होगा। हम किसी महात्माके समीप बैठे हैं और किसी उत्तम आध्यात्मिक विषयका श्रवण कर रहे हैं, उस समय यदि हमारा मन किसी सांसारिक चिन्ताकी ओर चला जाय तो महात्माका सारा उपदेश हवामें उड़ जाता है। हम ईश्वरका नाम लेना प्रारम्भ करते हैं, हाथमें मालाके दाने घूमते जाते हैं, होठ फड़कते जा रहे हैं; लेकिन मन न जाने कहां गोते खा रहा है। वह तो अपना रुपया सीधा कर लेने, मोलभाव करने और खेतोंकी मालगुज़ारी और मकानोंका किराया वसूल करनेमें लगा रहता है।

हम संकीर्तनमें सम्मिलित होते हैं, संकीर्तन बराबर अच्छी तरह हो रहा है, हमारे मित्रोंपर उसका गहरा असर हो रहा है; पर हमारा मन उस समय उन्हीं अदालतोंमें घूम रहा है जहांपर हमारा प्रतिपक्षी किसी बड़े वकीलसे हमें हरा देनेके लिये बातचीत कर रहा है। वृन्दावनमें गोविन्दजीके मन्दिरमें कथाका श्रवण करते समय हृदयमें उत्तम विचार भी आते हैं, पर उस समय भी हमारा मन कहीं अन्यत्र भटकता रहता है। इस प्रकार स्थान स्थानपर घूमनेवाला चंचल चित्त भक्तिके मार्गमें बड़े विघ्न डाला करता है।

उपरोक्त उपायोंका कुछ समयतक अभ्यास करनेसे भटकता हुआ मन स्थिर हो जायगा। पतञ्जलि ऋषिने मनको एकाग्र करनेके आठ उपाय बतलाये हैं जो निम्नलिखित हैं :—

१—तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः। (योग सूत्र)।

चञ्चल वृत्तिको स्थिर करनेके लिये मनको सदा एक ही तत्त्व या पदार्थपर रोकनेकी आवश्यकता है। मनको एक ही स्थानपर लगा देनेसे मनुष्यका मन इधर उधर भटकना छोड़कर एकाग्र हो जाता है।

२—मैत्रीकरुणामुदितोऽपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रासादनम्।

सुखी लोगोंके साथ मैत्री, दुखियोंके प्रति दयाभाव और पापियोंकी ओरसे उदासीन रहनेसे मन प्रसन्न रहता है। क्रोध, द्वेष, आदि उपाय मनको भटकाते हैं पर प्रेम, दया आदि सात्त्विक भावोंसे सब दुष्टभाव दूर हो जाते हैं। मनमें आनन्दकी उत्पत्ति होती है इससे एकाग्रता उत्पन्न होती है।

३—प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

प्राणायाम करनेसे मन एकाग्र हो जाता है, इन्द्रियां सब प्राणके आधारपर ही कार्य्य करती हैं इसलिये मनुष्यको प्राणोंका ही संयम करना चाहिये। प्राणायामका अभ्यास करनेसे मन एकाग्र हो जाता है। प्राणायाम सीखनेके लिये किसी अनुभवी गुरुकी शिक्षा लेना ही आवश्यक है।

४—विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी।

नाकके आगे चित्त एकाग्र करनेसे दिव्य गन्ध ज्ञान, जिह्वाके आगे दिव्य रस-ज्ञान, ताराके आगे दिव्य रूप-ज्ञान पैदा होता है, उसी समय मन भी उसीमें एकाग्र हो जाता है।

५—विशोका वा ज्योतिष्मती।

जिस समय मन शोकसे रहित होकर आनन्दसे पूर्ण हो जाता है उस समय वह एकाग्र हो जाता है। अभ्यास करते करते जिनके चित्तसे रजोभाव दूर हो जाता है उनके चित्तमें विक्षेप नहीं रहता।

६—वीतरागविषयं वा चित्तम्।

जब इन्द्रियजन्य सुखकी लालसा नष्ट हो जाती है, उस समय मन एकाग्र हो जाता है।

७—स्वप्न-निद्रा-ज्ञानालम्बनं वा।

किसी निद्रा या स्वप्न ज्ञानका अवलम्बन करनेसे मन एकाग्र हो जाता है।

८—यथाभिमतध्यानाद्वा।

अपनी रुचिके अनुकूल किसी भी पदार्थका ध्यान करनेसे भी चित्त एकाग्र हो जाता है। (पातंजल योगसूत्र पाद १ सूत्र ३२-३९)।

हमें जो पदार्थ आनन्द देते हों उनका ध्यान करनेसे एकाग्रता बढ़ती है, मनुष्य यदि अपने मनको चन्द्रमापर स्थिर करे, या उसे शरीरमें स्थित चक्रोंमें एकाग्र कर ले तो उससे भी मन एकाग्र हो जाता है। मनुष्यको सदा अपनी प्रिय वस्तु-

पर विचार करना बहुत भाता है और ऐसे किसी पदार्थपर विचार करनेसे एकाग्रता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि उस पदार्थपर जब विषयवासनासे प्रेरित होकर चित्त दौड़ता है तब उसका स्मरण करनेसे मन एकाग्र होना तो दूर रहा; वह और भी अधिक चंचल हो जाता है।

किसी भी शुद्ध और पवित्र पदार्थपर प्रेम रखनेसे एकाग्रता बढ़ती है, इसका एक दृष्टान्त नीचे दिया जाता है :—

एक विद्यार्थी गुरुके पास वेदाभ्यास करनेके लिये गया। पढ़ाते समय गुरुको ज्ञात हुआ कि, इसका मन पाठमें नहीं लगता है, वह कभी इधर कभी उधर जाता है। यह समझकर उन्होंने उससे पूछा कि, "तेरा मन इधर उधर क्यों भटक रहा है? तू अस्थिर चित्त क्यों हो रहा है?" उसने उत्तर दिया—"महाराज! मेरे मकानपर एक सुन्दर भैंस है, वह मुझे बहुत प्रिय है और जब जब मैं पढ़ने बैठता हूं, तब तब मुझे उसीका स्मरण आ जाता है, इससे चित्त पढ़नेमें नहीं लगता।" तब गुरु बोले—"अच्छा तुम वेदपाठ बन्द कर दो और अपनी भैंसपर ही विचार करो।" तब वह एकान्तमें उसी भैंसपर विचार करने लगा। इस प्रकार कुछ काल व्यतीत हो जानेपर उसके गुरुने एक छोटेसे दरवाजेके एक ओर बैठकर छात्रको बुलाया और कहा—"तुम इधर आकर बैठो। तुम्हारा फिर वेदपाठ शुरू होगा।" छात्र बैठ गया, गुरु समझ गये कि, अभीतक भी वेदाभ्यास करनेके लिये उसका चित्त स्थिर नहीं हुआ है।

उन्होंने फिर उसे अपने इच्छानुसार भैंसपर ही विचार करनेकी आज्ञा दी। वह फिर उसीके ध्यानमें लग गया। इस प्रकार कुछ दिन फिर व्यतीत हुए और गुरुने उसी द्वारके दूसरी ओर बैठकर फिर बुलाया। उत्तरमें वहींसे वह शिष्य कहने लगा—"मैं अन्दर किस प्रकार आऊं? मेरे सींग इस दरवाजेसे नहीं निकल सकते।" गुरुने समझ लिया कि, वह अपनी भैंसमें ही लीन हो गया है। उन्होंने उससे कहा कि—"आ! तू चला आ! तेरे सींग तुझे दरवाजेसे होकर आनेसे न रोकेंगे। मैं इसका उपाय कर दूंगा।" छात्रने आकर फिर वेदाध्ययन प्रारम्भ किया। भैंसका ध्यान करते हुए उस विद्यार्थीका चित्त ऐसा सिद्ध हो गया कि कुछ ही समयमें वह एक प्रसिद्ध वेदका विद्वान् भी बन गया।

इस प्रकार किसी एक पदार्थपर नेत्रोंको स्थिर करने या त्राटक-साधन करनेसे भी एकाग्रता बढ़ती है। उपसंहारमें हम अब भक्तिमार्गपर एकाध बात और लिख कर यह अध्याय समाप्त कर देंगे। ऊपर कहे गये उपायोंका अभ्यास करनेसे यह कोई न समझे कि वह उनसे ईश्वरको अपने वशमें कर ही लेगा। इस प्रकारकी कल्पना करना व्यर्थ है। भक्तिमार्गमें तो मनुष्य जितना प्रवेश करे उतना ही थोड़ा है, क्योंकि चाहे मनुष्यकी शक्ति जितनी बड़ी हो तोभी परिमित है। ईश्वर अपनी अनन्य भक्ति चाहनेवालोंको अपना स्वरूप बतलाता है। इसीसे मनुष्योंको कुछ आशा बनी रहती है। एक

समय यशोदाने श्रीकृष्णको रस्सीसे बांधनेका निश्चय किया, लेकिन वह रस्सी दो अंगुल छोटी हो गई। वे दूसरी रस्सी लाईं पर वह उससे भी अधिक छोटी निकली। तब सारे घरकी रस्सियां लाकर उन्होंने जोड़ दीं पर वे सब भी बांधने लायक नहीं हुईं, इस प्रकार लाख प्रयत्न करनेपर भी उन्हें नहीं बांध सकीं। यशोदा और अन्य गोपियां आश्चर्य्यमें निमग्न होकर बोलीं—"यह क्या बात है ?" पर इतनेमें ही श्रीकृष्णने अपनी माताके शरीरपर पसीना निकलते हुए देखकर दयाभावसे उनके मस्तकपर बँधे हुए डोरेको खिसका लिया, और उससे वे स्वयं ही बँध गये।

इस दृष्टान्तसे श्रीकृष्णने बतला दिया कि वे ब्रह्मा और ब्रह्माण्डके ईश्वर होते हुए भी किसीकी आज्ञा पालनेके लिये बाधित नहीं हैं। पर जो उनकी भक्ति करते हैं वे स्वयं उसके वशमें हो जाते हैं। (श्री० म० भा० १०-६-१८-१९)।

अपनी शक्ति, तपश्चर्य्या और भक्तिसे कोई भी मनुष्य ईश्वरको प्राप्त नहीं कर सकता। पर जो मनुष्य अपने सब प्रयत्नोंको तृणवत् समझकर नम्रतापूर्वक कार्य्य करता जाता है और स्वयम् यह समझता है कि भगवानकी कृपाके सिवाय उसकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती, उसी मनुष्यके आत्मतेजकी ओर निहारकर ईश्वर उसपर अपना कृपाकटाक्ष करते हैं।

दूसरा अध्याय।
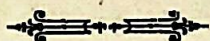
भक्तोंके लक्षण और भक्तिकी सीढ़ियां

जो मनुष्य स्वाभाविक रीतिसे ही ईश्वरकी कृपासे कृतार्थ हो जाते हैं, उनकी बात ही और है। हमारे जैसे सामान्य मनुष्यों-को तो भक्ति प्राप्त करनेके लिये नाना प्रकारके उपाय करने चाहिये। भक्तिका बीज किस प्रकार बोया जाता है, इस विषयकी विवेचना तो हो चुकी। अब भक्ति किस प्रकार परिपक्व होती है और भक्तके जीवनमें कौन कौनसे विशेष लक्षण क्रमशः उत्पन्न होते हैं, इस बातपर विचार करना है।

श्रीमद्भागवतके ११ वें स्कन्धमें जनकके प्रश्न करनेपर महाभावगत ऋषभनन्दन हरिने भगवद्भक्तोंको तीन श्रेणियोंमें बांटा है—उत्तम, मध्यम और अधम। इनमेंसे तीसरी श्रेणीका यही लक्षण किया है :—

> अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
> न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्रकृतः स्मृतः॥
>
> (श्री० म० भा० ११। २। ४७)

जो केवल प्रतिमाकी ही श्रद्धासे पूजा करता है वह भक्त प्रकृत या अधम श्रेणीका भक्त है।

जो मूर्त्तिका पूजन करते हैं, उनमेंसे भी जिनके हृदयमें

ईश्वरके प्रति कुछ श्रद्धाभाव होता है, उसके नामस्मरण या उसके लिये उपवासादि करनेमें कुछ प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, किन्तु ईश्वरके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, वे इसी श्रेणीके निकृष्ट भक्त होते हैं। इस श्रेणीके भक्त अपने स्वार्थके वश नीच कार्य्य करनेमें भी नहीं रुकते हैं। उनमें दयाका भाव नहीं होता, उनके हृदयमें अभिमान अधिक होता है और मुख्यतया वैर निकालनेकी लालसा उनके हृदयमें बहुत तीव्र होती है। क्रोध, मोह और लोभकी भी उनमें कमी नहीं होती। केवल ईश्वरके प्रति कुछ श्रद्धा होती है।

मध्यम श्रेणीके भक्तोंके लक्षण निम्नलिखित हैं।

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सुच।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥

(श्रीमद्भागवत ११-२-४६)।

जो ईश्वरसे प्रेम करता है, उसके भक्तोंसे मित्रता करता है, अज्ञानियोंपर करुणा करता है और शत्रुओंसे उपेक्षा करता है वही मध्यम श्रेणीका भक्त है।

ऐसे मनुष्यमें पहली श्रेणीकी अपेक्षा अनेक विशेषतायें होती हैं। पहले उसके हृदयमें ईश्वरके प्रति जो श्रद्धा होती है वह इस अवस्थामें प्रीतिके रूपमें बदल जाती है और उसमें ईश्वरभक्त पुरुषोंके प्रति मित्रताका भाव उत्पन्न हो जाता है। वह पहले अज्ञानी मनुष्योंको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखता था अब उनके प्रति उसे पूर्ण सहानुभूति हो जाती है और पहले वह

शत्रुओंसे वैर निकालनेके लिये मनमें द्वेष और हिंसाके भावोंसे जर्जरित था, अब वह शत्रुओंको भी उपेक्षाकी दृष्टिसे देखता है पर इस अवस्थामें उसको सर्वसाधारणके प्रति समान भाव नहीं होता, इस दशामें भी उसके हृदयमें भक्तिका प्रवाह नहीं बहने लगता।

उत्तम भक्तके लक्षण इनसे भी भिन्न हैं।

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥

"जिस मनुष्यको अपने और परायेमें भेदभाव नहीं और जिसकी दूसरेके धनमें भी अपने धनके समान ही बुद्धि है और जो सब प्राणियोंके प्रति समभाव रखता है, जिसने अपनी इन्द्रियों और मनपर अधिकार कर लिया है वही सर्वोत्तम भक्त है।"

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः॥

(श्रीम० भा० ११-२-५२-५४)।

जो मनुष्य सारे प्राणियोंमें ईश्वरके आत्माका रूप ही देखता है, और सब प्राणी और पदार्थोंको ईश्वरमें प्रतिष्ठित देखता है वही उत्तम भक्त है।

जो इस संसारके सुखदुःखरूपी चक्रको ईश्वरीय माया समझकर इन्द्रियजन्य सुख दुःखोंका अनुभव करनेपर भी उनमें न प्रसन्न होता और न कष्ट मानता है वही उत्तम भक्त है।

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्मापायक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥
न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सद्भवः ।
वासुदेवैकनिलयः सवै भागवतोत्तमः ॥
न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥

जो ईश्वरकी अनन्य भक्तिके आगे जन्म, मरण, सुख, दुःख, भय आदि संसारके धर्मोंसे पराजित नहीं होता और जिसकी मनोकामना ऐहिक सुखोंपर नहीं होती, जो ईश्वरको सदा स्मरण रखता है; वही भक्तोंमें श्रेष्ठ है। जिसके चित्तमें कर्मोंके बीजभूत वासनायें नहीं होतीं, जिसके हृदयमें वासुदेव निवास करते हैं, वही उत्तम भक्त है।

"जो मनुष्य अपने कुल, जाति कार्य्य और स्थितिसे भी कभी अपने देहका अभिमान नहीं करता, वह परमेश्वरका प्रिय है।"

"देवता भी जिनको पानेको उत्सुक रहते हैं ऐसे भगवानके चरण-कमलोंमें जो अपने हृदयको लीन रखता है और त्रैलोक्यकी सम्पदाको भी जो उसके सम्मुख तुच्छ समझता है अर्थात् जो सब वासनाओंका त्याग करके अपने हृदयको प्रभु-चरणोंमें आसक्त रखता है, वही सच्चा भक्त है।" (श्रीम० भा० ११-१-४२-५०)।

"हरिचरणके नखमणियोंके शीतल प्रकाशसे जिसके हृदयके काम-सन्ताप नष्ट हो गये हैं उस मनुष्यके हृदयमें

संसारकी क्षुद्र वासना किस प्रकार रह सकती है ? शीतल चन्द्रमाकी शुभ्र चन्द्रिका छिटके पश्चात् फिर सूर्य्यका ताप कहां रह सकता है ? जिसका नाम लेनेसे ही सब पाप नष्ट हो जाते हों उस हरिके चरण-कमलोंमें जो पुरुष प्रेमसे बंध चुका है वही उत्तम भक्त कहलाता है।" (श्रीम० भा० स्कन्ध ११ अ० २)।

श्रीमद् भगवद्गीतामें श्रीकृष्ण भगवानने और भी कहा है कि—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पित मनोबुद्धि र्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

गीता १२। १३-१४।

"जिसे किसी प्राणीसे द्वेष नहीं, जो सबपर दयालु, सबका मित्र, निर्मल, अहंकाररहित, क्षमावान, सुखदुःखमें समान रहनेवाला, संतोषी, मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाला, आत्मसंयमी और दृढ़निश्चयी है और जिसने अपने मन और बुद्धिको भी मेरे अर्पण कर दिया है वही मुझे भी प्रिय है।"

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः समेःप्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥

अध्याय १२-१५-१७ ।

"संसार जिससे उद्विग्न नहीं होता और जो संसारसे स्वयं उद्विग्न नहीं होता, एवम् जो हर्ष, शोक, भय, आदि से रहित है वही मेरा प्रिय है ।"

"जिसको किसी बातकी अपेक्षा नहीं, जो पवित्र, दक्ष, उदासीन और व्यथारहित है, जो संसारके कार्य्योंको त्याग कर देता है वही मेरा भक्त है ।"

"जिसे राग और द्वेष नहीं है, जो शोक और इच्छासे रहित है, जो शुभाशुभ परिणामको समदृष्टिसे देखता है वही भक्त मेरा प्रेमपात्र है ।"

समः शत्रौच मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥

गीता १२-१८-१६ ।

"जो शत्रु और मित्रको समान दृष्टिसे देखता है, मान और अपमानमें, शीत और उष्णमें, सुख और दुःखमें समदृष्टि रहता है, जो आसक्तिसे रहित होकर, मौन धारण कर, निन्दा और स्तुतिको एक समान समझकर जितना प्राप्त हो उसीमें सन्तुष्ट रहता है, जो सांसारिक चिन्ताओंसे रहित हो दृढ़मनसे मेरी भक्ति करता है, वही मेरा स्नेहपात्र है ।"

न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ताह्येकाकिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥
भागवत ११-२०-३४।

उद्धवको श्रीकृष्ण भगवानने भक्तका लक्षण इस प्रकार कहा है कि "भक्ति करनेपर जो भक्त कैवल्य या मोक्षकी इच्छा भी नहीं रखते ऐसे पवित्र और धीर भक्त ही मुझे प्यारे हैं।

ये तु धर्म्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्ते तीव मे प्रियः॥
भगवद्गीता १२-२०।

जो मैंने धर्मरूप अमृत कहा है जो इसपर श्रद्धासे आचरण करते हैं वे मेरे परम भक्त हैं।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रंधिष्ण्यं न सार्वभौमं न नराधिपत्वम्।
न योगसिद्धिर्न पुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
भागवत ११-१४-१४।

मेरा भक्त न ब्रह्माका पद चाहता है न इन्द्रका पद, न सार्भभौम पद चाहता है, न पातालका आधिपत्य, इसीप्रकार वह न योगकी सिद्धियां ही चाहता है न पुनर्जन्म, वह तो मेरे बिना और कुछ भी नहीं चाहता।

एक बात यह अवश्य स्मरण रखनी चाहिये कि किसी भी स्थानपर भक्तके लक्षणोंमें संसारको त्यागनेका तात्पर्य्य नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्ने अर्जुनको कहीं भी संसार छोड़कर भाग जानेका उपदेश नहीं दिया है।

सुख, दुःख, मान, अपमान आदि सबमें समान रहकर मनसे सब इच्छाओंका त्याग कर, संसारके सब कार्य्य करनेकी आज्ञा दी है। श्रीकृष्णने अर्जुनको दुर्योधनसे युद्ध करनेकी आज्ञा दी अवश्य, पर वह उसे वैर निकालनेके उद्देश्यसे नहीं, बल्कि केवल एक क्षत्रियकी तरह निष्काम भावसे अपना कर्त्तव्यपालन करनेके लिये दी। कर्त्तव्यपालनके समय हमारे सम्मुख बहुतसे ऐसे अवसर आ जाते हैं, कि उस समय हमें अन्यायके विरुद्ध युद्ध करना ही पड़ता है। पापी और अन्यायी-को सजा देनी ही पड़ती है और कहीं कहींपर शारीरिक दण्ड भी देना पड़ता है पर ऐसे समयपर हमें अपनेमें क्रोध और द्वेषको कभी घुसने नहीं देना चाहिए।

अब हमें यह देखना है कि जघन्य श्रेणीका भक्त किस प्रकार प्रयत्न करनेसे क्रमशः उत्तम दशाको पाता है। गीतामें भगवान् कहते हैं कि दुराचारी भक्त भी मेरा भजन यदि अनन्य चित्त होकर करता है तो वह भी शीघ्र ही भक्त हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें उद्धवको उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं:—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥
यथाग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्ति रुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥

भागवत ११-१४-१६।

"मेरे जो भक्त आत्मसंयम नहीं कर सकते वे भी मेरी प्रगल्भ भक्तिके बलसे पराजित नहीं होते। जिस प्रकार अग्नि अपनी ज्वालासे ईंधनको भस्म कर देती है, उसी प्रकार मेरी भक्ति सब पापोंका समूल नाश कर देती है।

ज्यों ज्यों मनुष्य भक्तिमार्गमें अग्रसर होता जाता है त्यों त्यों उसमें पवित्रताका आविर्भाव भी होता जाता है। जिसकी ओर हमारे हृदयमें प्रेम होता है उसके गुणोंका अनुकरण करनेकी भी इच्छा उत्पन्न होती है, जिनको भगवान्‌में भक्ति होती है उनके हृदयमें परमात्मा क्रमशः अपने रूपका प्रकाश करते हैं। परमात्मा स्वयं शुद्ध और पापोंसे सर्वथा परे हैं। जिनको उस परमात्माका शुद्धरूप प्राप्त हो गया है वे अपने हृदयपर पाप-पंकका कलंक क्योंकर लेना चाहेंगे? मनुष्यके हृदयमें यह स्वभाविक इच्छा है कि जो पदार्थ उसे मधुर लगता है वह उसे अपना लेना चाहता है, जिसके मनमें ईश्वरकी भक्ति है उनमें ईश्वरके उत्तमोत्तम गुणोंके अनुकरणकी इच्छा प्रबल हो जाती है, क्रमशः पापवासना और विषयकामना दूर हो जाती है। परमात्मा आनन्दस्वरूप है, इस कारण जब उसके आनन्दका एक तिलभर भी आदर करें तो हमारा हृदय आनन्दसे उछल पड़ता है। परन्तु पापवृत्तियां इस आनन्द-मार्गमें बाधक होती हैं, इसलिये मनुष्य उनसे अपना मन हटा लेता है। ज्यों ज्यों भक्ति बढ़ती जायगी त्यों त्यों पापका नाश होता जायगा। श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं किः—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

गीता ७ । १८ ।

"मेरी मायाका पार पाना बहुत कठिन है। इस मायाका वही लोग पार पाते हैं जो मेरी शरणमें आते हैं।"

सनातन नामक शिष्यको उपदेश देते हुए श्रीचैतन्य स्वामी कहते हैं कि—"जिस प्रकार धन पाकर हम भोगेच्छाओंको तृप्त कर सकते हैं और इच्छाओंके तृप्त होते ही हमारे मनका दुःख मिट जाता है, उसी प्रकार ईश्वरको भक्ति करनेसे उसपर प्रेम पैदा होता है और उस प्रेमका स्वाद लेते ही सब सांसारिक बन्धन भी टूट जाते हैं।"

भक्तिसे मनुष्यके हृदयमें एक ऐसी दिव्य शक्तिका आविर्भाव होता है, जिससे कि अविद्याका समूल नाश हो जाता है।

"जिस प्रकार दावानल जङ्गलके सर्पोंको जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार भक्तिभाव अविद्याका नाश कर देता है।"

(पद्म पुराण)

अज्ञानके नष्ट होते ही श्रद्धा बढ़ने लगती है, श्रद्धाके बढ़नेसे ईश्वरके गुणोंका श्रवण और ध्यान करनेकी इच्छा होती है और ध्यानसे आकर्षण, और आकर्षणसे प्रेम उत्पन्न होता है। श्रीरूप गोस्वामी भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहते हैं:—

आदौ श्रद्धा ततः सङ्गस्ततोऽथ भजनक्रिया ।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥

अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

पहले श्रद्धा, फिर सङ्ग, फिर भजन, फिर अनर्थकी निवृत्ति, फिर निष्ठा, फिर रुचि, फिर आसक्ति, फिर भाव, फिर प्रेम उत्पन्न होता है। निष्काम प्रेमके प्रादुर्भाव होनेके लिये क्रमसे इन भावोंका उदय होता है।

"प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते।"
शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥

"प्रेमकी प्रथम अवस्थाका नाम ही भाव है। जिस शुभेच्छासे हृदय शुद्ध और सात्त्विक भावोंसे भर जाता है, जो प्रेम शुद्ध सूर्य्यकी किरणोंके समान उज्ज्वल है, जो रुचियों द्वारा चित्तको निर्मल कर देता है, उसी शुभ प्रेम को "भाव" कहते हैं।"

जिस मनुष्यके हृदयमें कुछ ही समयसे ईश्वरके प्रति भाव उत्पन्न हुआ है, श्रीरूप गोस्वामी उसके लक्षण निम्नलिखित रूपसे बतलाते हैं।

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद् वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाःस्युर्जातभावाङ्कुरे जने॥

"जिसके मनमें क्षान्ति भावका अङ्कुर पैदा होता है उसके मनमें अव्यर्थकालता और विरक्ति उत्पन्न होती है, मनसे

अभिमान टूट जाता है। आशाबन्धकी उत्पत्ति होती है। ईश्वरके गुण गानेकी उत्कण्ठा उसके नाम कीर्तनमें रुचि, उसके गुणकथनमें आसक्ति, उसके मन्दिरमें प्रीति इत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं।"

क्षोभहेतावपि प्राप्ते क्षान्तिरक्षुभितात्मता।

क्षोभके कारण होनेपर भी क्षोभका न होना ही क्षान्ति या क्षमा कहाती है। भगवानका सदा स्मरण और भजन करना ही अव्यर्थकालता या कालको व्यर्थ न गवांना कहाता है। भगवानके अतिरिक्त जो समय गुजरता है वह व्यर्थ जाता है। यह भाव जिनके हृदयमें उत्पन्न हो जाता है वे कभी किसी अन्य कार्य्यमें लिप्त नहीं होते। जो आहार विहार आदि संसारके सब कार्य्योंमें भी भगवानको चित्तमें रखते हैं, उनका कोई समय व्यर्थ नहीं जाता।

विरक्तिरिन्द्रियार्थानां स्यादरोचकता स्वयम्।

इन्द्रियोंका भोगविषयोंके प्रति न जाना ही विरक्ति या वैराग्य कहाता है। जिनके चित्तमें इस भावका उदय हो जाता है उनके चित्तमें भोग करनेका लोभ नहीं रहता। भगवानका दास रहकर जितने भोगकी आवश्यकता है उनका उतना ही पर्य्याप्त होता है।

आशाबन्धो भगवतः प्राप्तिसद्भावना दृढ़ा।

मैं भगवान्‌को पा ही लूंगा यही दृढ़ आशा आशाबन्ध कहाता है। पञ्जाबके विख्यात स्वामी रामतीर्थने आशाबन्धकी दृढता इतनी अच्छी दिखलायी है:—

"आसन जमाये बैठे हैं, दरसे न जायेंगे।
मजनूं बनेंगे हम तुम्हें लैला बनायेंगे।
कफ़न बांधे हुए सिरपर किनारे तेरे आ बैठे।
न उट्ठेंगे सिवा तेरे उठाये जिसका जी चाहे।
बैठे हैं तेरे दरपे तो कुछ करके उठेंगे।
या असल ही हो जायगी या मरके उठेंगे॥"

समुत्कण्ठा निजाभीष्टलाभाय गुरुलुब्धता।

अपनी अभीष्ट वस्तुको प्राप्त करनेकी अति अधिक लालसा उत्कण्ठा कहाती है।

'नामगाने सदा रुचिः।' और 'तद्वसतिस्थले प्रीतिः।'

भगवानके बनाये हुए सभी स्थान निवासस्थान है। भक्तकी पहले तीर्थमें भक्ति होती है, सर्वव्यापी भगवानमें जितना अधिक प्रेम होता जाता है उतना ही उसको भी भगवान सब स्थानोंपर ही रहते पता लगते हैं। और अन्तमें विश्वव्यापिनी प्रीतिका उदय हो जाता है।

जिन भाग्यवान पुरुषोंके हृदयमें यह भावाङ्कुर उत्पन्न हो जाता है वे स्वयं पूर्वोक्त कहे हुए गुणोंसे सुशोभित होते हैं। इस प्रकार भगवानके स्मरण, कीर्त्तन और मनन करनेसे उसके देहमें "सात्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः।" प्रेमाश्रु और रोमांच आदि सात्विक भावोंका थोड़ा थोड़ा उदय होने लगता है।

ते स्तम्भस्वेदरोमाञ्चा स्वरभेदोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्विकास्मृताः ॥

सात्विक भाव आठ प्रकारके हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय ।

स्तम्भो हर्षभयाश्चर्य विषादामर्षसम्भवः ।
तत्र रागादिराहित्यं नैश्चल्यशून्यतादयः ॥

हर्ष, आश्चर्य, विषाद और अमर्ष (क्रोध) इन भावोंसे स्तम्भ उत्पन्न होता है। फिर बोलनेकी शक्ति नहीं रहती। शरीर निश्चल हो जाता है और बाहरकी इन्द्रियोंका व्यापार भी बन्द हो जाता है।

हर्ष, भय, विस्मय आदि नाना कारणोंसे उपर्युक्त स्थिति हो जाती है। इसको स्पष्ट करनेके लिये हम दो-एक दृष्टान्त देते हैं। भगवान्‌की मधुरताका चित्तमें अनुभव होते ही हर्ष हो सकता है। भय भी हो सकता है यदि मनमें यही विचार उत्पन्न हो जाय कि बहुत प्रयत्न करनेपर भी भगवान जान बूझकर मुझे दर्शन नहीं देना चाहते। इस संसारमें प्रभुके लीला कौशल देखकर विस्मय होता है, ईश्वरके वियोगकी चिन्ता करनेसे विषाद होता है और ईश्वरकी निन्दा करनेवालोंके प्रति क्रोध भी उत्पन्न होता है, कभी कभी तो ईश्वरकी बहुत आराधना करनेपर उसकी अपनेपर दृष्टि न होनेके कारण भी क्रोध आ जाता है।

स्वेदो हर्षभयक्रोधादिजः क्लेदकरस्तनोः ।

आनन्द, भय, और क्रोध इन तीनोंमेंसे एक या तीनोंसे पसीना या स्वेद होना सम्भव है।

रोमाञ्चोऽयंकिलाश्चर्य्ये हर्षोत्साहभयादिजः।
रोम्णामभ्युद्गमस्तत्र गात्रसंस्पर्शणादयः॥
विषादविस्मयामर्षहर्षभीत्यादिसम्भवः।
वैस्वर्य्यं स्वरभेदः स्यादेष गद्गदिकादिकृत्॥

हर्ष भय और क्रोधादिसे जो पसीना निकलता है वही स्वेद कहाता है। विस्मय, हर्ष, उत्साह और भयादिसे रोमाञ्च हो जाता है। विषाद, विस्मय, क्रोध, आनन्द और भयादिसे अपनी आवाजमें भेद पड़ जाता है वही स्वरभेद कहाता है। उसीसे गला रुक रुककर मनुष्य गद्गद हो जाता है।

वित्रासामर्षहर्षाद्यै र्वेपथुर्गात्रलौल्यकृत्॥

भय, क्रोध और हर्ष आदिसे कम्प उत्पन्न होता है उससे शरीरमें चञ्चलता या कँपकपी उत्पन्न होती है।

विषादरोषभीत्यादि र्वैवर्ण्यं वर्णविक्रिया।
भावज्ञैरत्र मालिन्यं कार्श्याद्याः प्रकीर्त्तिताः॥
हर्षरोषविषादाद्यै रश्रुनेत्रजलोदयः।
हर्षजेऽश्रुणि शीतत्वमौष्ण्यं रोगादिसम्भवे॥
प्रलयः सुखदुःखाभ्याञ्चेष्टाज्ञाननिराकृतिः।
अत्रानुभावाः कथिताः महीनिपतनादयः॥

विषाद, क्रोध और भय आदिसे मुखके वर्ण या रङ्गमें भेद आ जाता है उसीको वैवर्ण्य कहते हैं। भावज्ञ विद्वानोंका

कथन है कि इन्हीं कारणोंसे मुखपर मलिनता और शरीरमें कृशता आदि भी आ जाती है। हर्ष, क्रोध और विषादादिसे जो आँखों-में आँसू आ जाते हैं उसीको अश्रु कहते हैं हर्षके अश्रु शीतल और रोषादिसे उत्पन्न हुए अश्रु गर्म होते हैं। अश्रुओंसे आँखोंमें चञ्चलता, ललाई और आँखें पोछनेकी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है।

सुख दुःख और इन्द्रियोंकी चेष्टाका एक ही बार लुप्त हो जाना प्रलय कहाता है। उसीसे भूमिमें लोटना आदि क्रियायें प्रकट होती हैं। ये ही आठ प्रकारके सात्त्विक भाव कहाते हैं। जिनके हृदयमें ये सात्विक भाव पूरी तरहसे विकासको प्राप्त नहीं होते उनके हृदयमें भी इनका कुछ कुछ विकास अवश्य हो जाता है।

श्रीरूप गोस्वामीने भावोंके विकासके चार प्रकार बत-लाये हैं।

धूमायिता ज्वलिता दीप्ता उद्दीप्तसंज्ञिता।
वृद्धिं यथोत्तरं यान्तः सात्त्विकाः स्युश्चतुर्विधाः॥
अद्वितीया अमीभावाः अथवा सद्वितीयकाः।
ईषद्व्यक्ताः अपह्नोतुं शक्या धूमायिता मता॥

यही भाव उत्तरोत्तर विकासको प्राप्त होकर धूमायित, ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त इन चार अवस्थाओंमें प्रकट होते हैं।

जब एक या दो भाव ही अत्यन्त स्पष्ट रूपमें प्रकट होते हैं, और औरोंको छिपा लिया जाता है। जिन भावोंको छिपा लिया जा सके वे धूमायित कहाते हैं। दृष्टान्त सुनिये जैसेः—

"पापहारी श्रीहरिकी पापहारिणी कीर्त्ति सुनते सुनते याजक पुरोहितके कपोलोंपर रोमाञ्च हो आया और उसकी नाकपर स्वेदबिन्दु चमकने लगे।"

तौ द्वौ त्रयोवा युगपद्यान्तः स्वप्रकटां दशाम् ।
शक्याः कृच्छ्रेण निन्होतुं ज्वलिता इति कीर्त्तिताः ॥

जब दो या तीन सात्त्विक भाव हृदयमें एकही समय प्रगट होते हैं और उनका छिपाना बहुत कठिन हो जाता है उस अवस्थाको भावोंकी ज्वलितावस्था कहते हैं। जैसे एक गोपी कहती है कि:—

"निरुद्धं वाष्पान्तः कथमपि मया गद्गद गिरो ।
ह्रिया सद्यो गूढ़ा पथि विघटितो वेपथुरपि ॥
गिरिद्रोण्यां वेणौ ध्वनति निपुणै रिङ्गितनये ।
तथा प्यूहांचक्रे मम मनसि रागः परिजनैः ॥"

हे सखि ! पर्वतकी गुफामें जब मैंने वीणाका नाद सुना, तो मेरा कण्ठ गद्गद् हो गया, मेरी आंखोंमें आंसू आ गये, लज्जाके कारण वाक्य भी गद्गद् हो गये परन्तु उनको भी जैसे तैसे रोका, पर शरीरका कम्प मैं न रोक सकी, जिससे चतुर कुटुम्बियोंको पता लग गया कि मैं श्रीकृष्णके प्रेममें डूबी हुई हूं।"

प्रौढ़ां त्रिचतुरां व्यक्तिं पञ्चवा युगपद्गताः ।
संवरीतुमशक्यास्ते दीप्ताः धीरैरुदाहृताः ॥

जब ऊपर कहे गये आठों प्रकारके सात्त्विक भावोंमेंसे तीन, चार या पांच इकट्ठे प्रगट होते हैं और जिनको रोकना या छिपाना

बिलकुल असम्भव हो जाता है तब भावोंकी दीप्त अवस्था होती है। जैसे:—

नारदके भगवद्दर्शन होनेपर उनकी क्या दशा हो गई:—

न शक्तिमुपवीणने चिरमधत्त कम्पाकुलो,
न गद्गद निरुद्धवाक् प्रभुरभूदुपश्लोकने।
क्षमोऽजनि न वीक्षणे विगलदश्रुपूरः पुरो,
मधुद्विषि परिस्फुरत्यवशमूर्त्तिरासीन्मुनिः॥

"नारद ऋषि भगवान श्रीकृष्णको आगे खड़ा देखकर अपने आपको ऐसे भूल गये कि चिरकालतक गात्रमें कंपकपी होजानेके कारण वीणा बजाने तककी शक्ति न रही, गद्गदके कारण वाणी रुक गई और वे भगवानकी स्तुति भी न कर सके। आंखोंसे अश्रुप्रवाह भी इस वेगसे बहने लगा कि वे भगवान्के दर्शन भी न कर सके।"

एकदा व्यक्ति मापन्ना पञ्च षट् सर्व एव वा।
आरूढाः परमोत्कर्षमुद्दीप्ता इति कीर्त्तिताः॥

जब पांच या छः भाव या सारे ही भाव इकट्ठे एक ही समयमें प्रगट होकर बहुत अधिक बढ़ जाय उसी अवस्थाको उद्दीप्त कहते हैं। जगन्नाथके रथके सामने श्रीचैतन्य महाप्रभु भक्तिके आवेशमें नाचा करते थे—यह सात्विक भावोंकी उद्दीप्त अवस्थाका अच्छा उदाहरण है।

"हरिके रथके सम्मुख नृत्य करते हुए उनके हृदयमें अद्भुत भाव प्रकट हो रहे थे एक ही समयमें आठों सात्विक विकार

एक साथ उदय होते थे। उनका रोमांच इतना प्रबल हो रहा था कि उनकी देह सेमरके वृक्षकी तरह कंटकित दिखाई देती थी, एक एक दांतमें ऐसा कंपन हो रहा था मानो सब दांत शीघ्र बाहर निकलना चाहते हैं। उनको सारे शरीरपर पसीना आ रहा था, त्वचा खूनके रङ्गसे लाल हो रही, थी बड़ी कठिनाईसे वे ज-ज ग-ग ज-ज ग-ग शब्दका उच्चारण हो गद्गद् होकर करते थे उनकी आंखोंसे सावन भादोंकी सी झड़ी बरस रही थी, मानो आंखोंसे फुहारे छूट रहे थे, जिससे पास खड़े हुए लोगोंके कपड़े भी भीगते जा रहे थे। उनकी सुन्दर गौरदेह-कान्ति कभी बालसूर्य्यके समान अरुण, कभी मल्लिकाके पुष्पके समान सुन्दर भासती थी, कभी वे स्तब्ध होकर खड़े हो जाते थे तो कभी पृथ्वीपर लोट जाते थे और कभी सूखे काठकी तरह जड़ हो हो जाते थे।"

श्रीगौराङ्ग चैतन्य प्रभुके देहमें आगे सात्विक भाव एक ही समयमें प्रगट होते थे। जब हृदय प्रेममें डूब जाता है तभी ऐसे सात्विक भाव प्रगट होते हैं, तभीसे भावोंका कुछ कुछ सात्विक आभास होने लगता। जब वही भाव गाढ़ा हो कर प्रेममें बदलता है तभी उपरोक्त सात्विक भाव ज्वलित दीप्त और उद्दीप्त अवस्थाओंमें प्रगट होते हैं, उन्हींसे प्रेमका उदय होता है। भावमें क्षोभ हुआ नहीं कि प्रेम उमड़ा नहीं।

तीसरा अध्याय

प्रेम

भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा है कि:—

> सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ।
> भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥

जिस भावसे हृदय बहुत कोमल होता है, जिससे अत्यन्त अधिक ममता उत्पन्न होती है, उसीको बुद्धिमान लोग "प्रेम" कहते हैं।

नारदपञ्चरात्रमें लिखा है कि:—

> अनन्यममता विष्णोर्ममता प्रेमसङ्गता ।
> भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः ॥

अन्य किसी विषयमें ममता न करके एकमात्र विष्णुमें प्रेमभरी ममताको ही नारद आदि भक्तोंने भक्ति कहा है। उसी प्रेमको नारदने प्रेमभक्ति कहा है:—

> "सा कर्मणि परमप्रेमरूपा ।"

वही भक्ति परमप्रेमरूप है।

ऋषि शाण्डिल्य कहते हैं "सा परानुरक्तिरीश्वरे" वही ईश्वरमें परम अनुराग है।

गत अध्यायोंमें भक्तके लक्षण बतला चुके हैं, यह भी बतलाया

जा चुका है कि उनके हृदय किस प्रकार पवित्र होते हैं, चरित्र कैसे निर्मल हो जाते हैं और वे अन्य प्राणियोंको किस दृष्टिसे देखते हैं। अब हम यह बतलानेका प्रयत्न करेंगे कि भक्त और भगवानके बीचमें क्या सम्बन्ध है।

हम ऊपर कह आये हैं कि भाव प्रेमके रूपमें दृढ़ हो जाता है। भगवानके मनन, कीर्तन और स्मरणसे सात्विक भाव क्रमसे ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। इन्हीं भावोंको लक्ष्य करके शाण्डिल्यऋषिने भक्ति-मीमांसामें लिखा है:—

"तत्परिशुद्धिश्च गम्या लोकवल्लिङ्गेभ्यः।" (शा० सू०)।

जिस प्रकार साधारणतः किसी व्यक्तिके प्रति किसी प्रकारका अनुराग होनेपर उसको अपने प्रिय व्यक्तिके विषयकी बातें सुननेसे प्रेमके आंसू गिरते हैं, रोमाञ्च आदि होता है, उन्हीं सात्विकभावोंसे उसका प्रेम जाना जाता है, उसी प्रकार भगवानके प्रति शुद्ध भक्ति हो जानेपर उसकी कथा सुनने आदिसे भी नयनोंमें अश्रु और देहमें रोमाञ्च हो जाता है, उन्हीं लौकिक सात्विक भावोंसे उस भक्तिको जानना चाहिये।

भगवानके प्रति भक्तके अनुरागकी परीक्षाके लिये शाण्डिल्य-ऋषिने कुछ एक लक्षणोंका इस प्रकार उल्लेख किया है।

सम्मानबहुमानप्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमख्यातितदर्थप्राणस्थानतदीयतासर्वतद्भावाप्रातिकूल्यादीनिच स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्। शा०। सू०।

भगवानके स्मरणादिसे भगवानमें सम्मान, अति आदर, प्रीति, विरह, इतरविचिकित्सा महिमा ख्याति तदर्थप्राणस्थान तदीयता, सर्वत्र तद्भाव, और अप्रातिकूल्य ये लक्षण प्रगट होते हैं। शाण्डिल्यसूत्रके भाष्यकार स्वप्नेश्वराचार्यने इन लक्षणोमेंसे प्रत्येकका पृथक् पृथक् दृष्टान्त दिया है। सम्मान जैसे अर्जुन भगवान श्रीकृष्णका करते थे। जैसे महाभारतमें लिखा है कि:—

प्रत्युत्थानं तु कृष्णस्य सर्वावस्थो धनञ्जयः।
न लङ्घयति धर्मात्मा भक्त्या प्रेम्णा च सर्वदा॥

धर्मात्मा धनञ्जय सभी अवस्थाओंमें जब कभी श्रीकृष्ण आ जाते थे तो उनका उठकर प्रेम और भक्तिसे सत्कार करनेमें न चूकते थे।

बहुमान अर्थात् सब पुरुषोंसे भगवानका ही अधिक आदर करना जैसे नृसिंहपुराणमें इक्ष्वाकुका भगवानके प्रति बहुमान दिखाया गया है।

पक्षपाते स तन्नाम्नि मृगे पद्मे च तादृशि।
बभार मेघे तद्वर्णे बहुमानमतिं नृपः॥

राजा इक्ष्वाकु भगवानके पक्षपाती होकर उसके नाममें उसीके नयनोंकी समता रखनेवाले हरिणमें, पद्ममें, उसीके वर्णवाले मेघ तकमें बहुत अधिक मान दिखाते थे।

प्रीतिका दृष्टान्त विदुरमें देखिये।

या प्रीतिः पुण्डरीकाक्ष तवागमनकारणात् ।
सा किं माख्यायते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ॥

महा० उद्योग ।८६।२४ ।

हे पुण्डरीकके समान नेत्रोंवाले भगवन्, तुम्हारे आनेपर जैसी प्रीति उत्पन्न होती है उसके विषयमें मैं आपसे क्या कहूं आपही तो सब देहधारियोंके भीतर हैं आपही तो सबके प्राण हैं ।

विरहका दृष्टान्त गोपियोंमें देखिये :—

गुरूणामग्रतो वक्तुं किंब्रवीमि न नः क्षमम् ।
गुरवः किं करिष्यन्ति दग्धामां विरहाग्निना ॥

विष्णुपुराण ।१५।१६ ।

मां-बापके सामने हम क्या कह सकती हैं ? वे क्या कहेंगे ? हम तो अब विरहकी आगसे जल चुकीं, अब मां बापका भी हमसे क्या कार्य चलेगा ?

भगवानके अतिरिक्त और किसीको भी ग्रहणयोग्य न समझना । यही इतरविचिकित्सा कहाती है जैसे उपमन्यु इन्द्रसे कहते हैं :—

अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयं शङ्कराज्ञया ।
नतु शक्र त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कामये ॥

महा भा० १४।२८६ ।

हे इन्द्र, शङ्करकी आज्ञासे चाहे मैं कीटपतङ्ग हो जाऊं तो वह भी अच्छा, परन्तु आप मुझे तीनों लोक भी दें, तो मुझे वे नहीं चाहियें ।

भगवानके महात्म्योंका वर्णन करना और अनुभव करना ही महिमाख्याति कहाता है जैसे नृसिंहपुराणमें लिखा है :—

> नरके पच्यमानश्च यमेन परिभाषितः ।
> किंत्वयां नार्चितो देवः केशवः क्लेशनाशनः ॥
>
> नृसिंह पुराण ८।२१ ।

नरकमें क्लेश भोगते हुए व्यक्तिके प्रति यम कहते हैं कि तूने क्लेशके हरनेवाले केशवदेवकी अर्चना नहीं की । विष्णु पुराणमें लिखा है कि:—

> स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं वदति यमः किल तस्य कर्णमूले ।
> परिहर मधुसूदन प्रपन्नान् प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् ॥
>
> विष्णुपुराण ३।१ ।

यमराज अपने दूतके हाथोंमें पाश देखकर उसके कानोंमें कहने लगे—"तुम मधुसूदन भगवानके भक्तोंको इस पाशमें मत बांधना, मेरा बल विष्णुभक्त वैष्णवोंपर नहीं चलता, मेरा शासन तो उनके अतिरिक्त और लोगोंपर चलता है ।

यह सब सुखभोग सामग्री आदि सब कुछ भगवानका है-यही त्वदीयता कहाती है । इसमें उपरिचर वसु राजाका दृष्टान्त बड़ा उत्तम है :—

> आत्मराज्यं धनं चैव कलत्रं वाहनं तथा ।
> यत्तद् भागवतं सर्वमिति संप्रेक्षते सदा ॥
>
> महा भा० शा० ३३५ । ३४ ।

उपरिचर वसु राजा सदा यही मनमें सोचा करते थे कि मेरा यह राज्य धन, पुत्र कलत्र और हाथी घोड़े सब कुछ उसी भगवानके हैं।

भगवानके लिये अपने जीवनको समझना तदर्थ प्राणस्थान कहाता है।

जैसा वाल्मीकिरामायणमें उत्तर काण्डमें हनुमान श्री-रामजीको कहते हैं कि :—

यावत्तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी।
तावत् स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन्॥

रामा० उ० का०। १०७

जब तक तुम्हारी सब लोकोंको पवित्र करने वाली कथा रहेगी तब तक इस भूमण्डलपर मैं भी तुम्हारी आज्ञा पालन करता हुआ विचरता रहूंगा।

हर एक स्थानमें भगवानको प्रकट होता हुआ देखना ही 'सर्वत्रतद्भाव' कहाता है। यह लक्षण राजकुमार प्रह्लादमें बड़ा अच्छा दिखाई देता है :—

एवं सर्वेषु भूतेषू भक्तिरव्यभिचारिणी।
कर्त्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम्॥

प्रह्लाद कहते हैं—"हरिको सर्वभूतमय जानकर पण्डित लोग सभी प्राणियोंमें अचल भक्ति करें।

भगवान जो कुछ करें वही ठीक है-वही हमें स्वीकार करना चाहिये, ऐसा भाव अप्रातिकूल्य कहाता है।

जैसे, जब भीष्मदेवका विनाश करनेके लिये श्रीकृष्ण आगे बढ़े तब पितामह बोले :—

एह्येहि देवेश जगन्निवास नमोऽस्तुते शार्ङ्गगदादिपाणे।
प्रसह्य मां पातय लोकनाथ रथादुदग्रादद्भुतशौर्य्य संख्ये॥

महा० भा० भी० प० ५० । ६५

हे देवेश, हे जगन्निवास, हे शार्ङ्गधर, गदाधर, तुम्हें नमस्कार हो। हे लोकनाथ, इस घोर युद्धमें हमें तुम बलपूर्वक मारकर भी रथसे गिरा दो तो भी अच्छा है।

बङ्गाली कवि रामप्रसाद भी एक कवितामें कहते हैं कि; "मुझे तो काला रङ्ग ही भला लगता है; क्योंकि लोकेश्वरी काली जो कि, सारे संसारमें मोह उपजाती है वह भी तो काली है।

चांडाल गुह्यक भी कहता था कि "गगने हेरि, नव घन येन घन नयन झरे।"

ये उपरोक्त दोनों उदाहरण अतिसम्मानके हैं। रामप्रसादके निम्नलिखित वचनोंमें प्रीतिका अच्छा नमूना है—"आनन्दमयी माता मेरे हृदयमें सदा क्रीड़ा करती है। मैं चाहे जिस स्थितिमें भी होऊं पर उसका नाम कभी नहीं भूलता। मैं यदि अपने नेत्र बन्द करता हूं तोभी मुझे कपालमाला धारण करनेवाली माताका दर्शन होता है, मेरी सब बुद्धिमत्ता नष्ट हो गई है और सब मुझे पागल कहते हैं। चाहे सब मुझे पागल कहें, मुझे कुछ परवा नहीं, मुझे तो मरते समय

केवल पगली देवी प्राप्त हो जाय इतना ही मैं चाहता हूं।"
इसीको प्रीति कहते हैं।

एक समय विदुरकी स्त्री नहाने बैठी थी, इतने हीमें दरवाजे पर श्रीकृष्ण आ गये और उन्होंने विदुरको पुकारा। श्रीकृष्णकी आवाज सुनते ही वह आनन्दमें पागल हो गई। यहांतक कि, अपना वस्त्र पहनना तक भूल गई, और श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये नग्नावस्थामें ही दौड़ती हुई चली गई और श्रीकृष्णके सामने जा खड़ी हुई। श्रीकृष्णने उसपर तुरत वस्त्र डाल दिया। उसीको अपने शरीरपर ओढ़कर वह श्रीकृष्णको प्रेमसे पकड़कर अपने घरमें ले गई, परन्तु आनन्दमें विह्वल होनेके कारण वह यह भी नहीं सोच सकी कि मुझे क्या करना चाहिये? उसकी बहुत ही दरिद्रावस्था थी, इसलिये भगवान्को खिलानेके लिये उसके पास घरमें भी कुछ अच्छी वस्तु नहीं थी, इसलिये वह अन्तमें पानी और कुछ केले ले आई पर वह हर्षमें इतनी पागल हो रही थी कि केलेके अन्दरका भाग तो फेंक देती और छिलका खानेको देती। भगवान्को तो भक्तके द्वारा दिया हुआ विष भी ग्राह्य है; इसलिये उन्होंने फलके छिलके भी शान्तिपूर्वक खा लिये। इतनेहीमें राजसभासे विदुर भी आ गये, वे यह दृश्य देखकर अवाक् रह गये और अपनी स्त्रीको डांटने लगे कुछ कालके बाद स्वयं लज्जित हुए। इससे अच्छा ईश्वरप्रेमका उत्तम उदाहरण और कहां मिलेगा?

"विरह" का सर्वोत्तम दृष्टान्त श्री चैतन्यदेवका है। उनकी

विरह दशाके दिखानेके लिये कई एक वैष्णव कवियोंके उद्हारणोंका भाव नीचे दिया जाता है :—

विरहावस्थामें "युवक गौराङ्ग श्रीचैतन्य नतमस्तक होकर आँखोंमें आँसू भरकर पृथ्वीपर क्या लिखते हैं ? उनका काञ्चन गौर शरीर रूईके समान कृश क्यों हो गया है ? वे रात रात भर जागते रहे हैं, एक क्षण भी निद्रा नहीं लेते। जो कोई उनका स्पर्श करता है उसके सामने अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे निहारते हैं। वे कभी कभी हाथोंपर मुंह रखकर लम्बी लम्बी सांसे लेते हैं।"

जब विरहकी वृत्ति बहुत तीव्र हो जाती है तब "प्रभु गौराङ्ग छाती पीटते हैं और आहें पर आहें भरते हैं और दुःखसे "हे प्रभो ! हे प्रभो !" आदि शब्द कहते हैं। लम्बी सांसें लेकर सजल नेत्रोंसे गदाधरकी ओर निहारते हैं। पसीनेसे उनका सारा शरीर भीग जाता है और वह एक टक लगाये हुए देखा करते हैं। विरहाग्निसे उनका हृदय तो जल रहा है पर शरीर जलकर भस्म नहीं होता। क्या करना चाहिये यह, किसीको नहीं सूझता है। हरिदास कहते हैं कि, "मैं उन्हें क्या कहूं ? गौरांगकी ऐसी स्थिति कौन जाने क्यों होती है !" ज्ञानदास तो कहते हैं कि "राधाके प्रेमकी ही यह सब दुविधा है क्योंकि राधिकाका ही प्रेम गौरांगमें वास करता है।"

विरहोन्माद :—"ऐ मेरे गौरांग ! हा ! यह क्या हो गया ? अब तो इस दिनरात किसी भी बातका ज्ञान नहीं रहता। बिना कारण ही वह हँसता है, गीत गाता है, कभी उटपटांग

प्रश्न पूछता है। कभी अचानक बोल उठता है कि "मेरा प्रभु कहां है।" हर वक्त उसका शरीर कांपता रहता है, कभी कभी वह हाथ उठा उठाकर नाचता है और मुंहसे बड़बड़ाता है। कभी आँखें बन्द करके बोल उठता है "हे प्रभो! हे प्रभो!!" और फिर ऊंचे स्वरसे रोने लगता है। दास नरहरि कहते हैं कि राधाके प्रेमके कारण ही उसकी यह दशा हो गयी है। कलियुगको इस प्रकार पार करनेके लिये चैतन्यदेव आये तो फिर मुझ दीनको क्यों नहीं मोक्ष देते?

भगवद्विरहकी दशवीं दशा—"मेरा काञ्चन और गौरांग सोनेके समान शरीरसे मिट्टीमें लोट रहा है और वह मूर्च्छित हो जाता है, कुछ समयके लिये उसका श्वासोच्छ्वास भी रुक जाता है। सभी शिष्य उसके आसपास इकट्ठे होकर रोने लगते हैं, पुरुष और स्त्रियां उसको चकित होकर देखती हैं। उसकी दशाको देखकर तो पक्षी भी रोने लगते हैं।"

विरहके विषयमें कबीरने क्या उत्तम कहा है :—

"कबीर, विरह बिना तन शून्य, हाय विरह हाय, सुलतान।
जो घर विरह न सञ्चरे, सो घर जनू मसान।
कबीर, हांसे प्रिय न पाइये जिन्ह पाया तिन्ह रोय।
हांसि खेलि जो पिया मिले तो को दोहागिन होय॥"

कबीरजी कहते हैं कि "विरहके बिना शरीर भी जड़ है विरह तो मेरा बादशाह है। जिस घरमें विरह नहीं वह घर तो श्मशानके समान है।"

कबीर कहते हैं "हंसी खुशीमें प्रिय समागम नहीं होता। जो हँसी खुशीमें अपने प्रियको पाते हैं वे ही बादमें रोते हैं। यदि हँसी खेलमें प्रिय मिल गया होता तो कौन अपने भाग्योंको कोसा करता।"

इतरविचिकित्सा अर्थात् अपने भगवान्के अतिरिक्त दूसरेको उपेक्षा कर देनेका भाव तुलसीदासके जीवनमें कैसा अच्छा पाया जाता है। उन्होंने भगवान्के पीछे इतरविचिकित्साके भावसे प्रेरित होकर ही इस सारे संसारको तृणके समान समझा।

उपल बरषि, तरजत गरजि, डारत कुलिश कठोर।
चितवति चातक जलद तजि कबहुं आनकी और॥

बादल ओले बरसाता है, गर्ज गर्जकर धमंकियां देता है, कठोर वज्र भी गिरता है, तब भी क्या मेघको छोड़कर चातक कभी किसी औरकी भी याद करता है? कभी नहीं।

भक्तपर भगवान् कितने ही संकट क्यों न डाल दें तोभी भक्त भगवान्के अतिरिक्त दूसरेकी कभी याद न करेगा।

रामप्रसाद भी इसी भावमें लीन होकर कहते हैं कि, "शिवकी पत्नी जो साक्षात् महेश्वरी शक्ति है, वही मेरी माता है। फिर मुझे किस बातका डर? मैं तो उस आनन्द-मयी माताकी गोदमें रहता हूं।"

भगवान्की महिमाके गायनके विषयमें शाण्डिल्य ऋषिके लिखे हुए उदाहरणसे बढ़कर दूसरा उदाहरण देना व्यर्थ है।

भक्त सदा अपना सर्वस्व परमात्माको ही धन माना करता है। यही त्वदीयताका भाव बङ्गाली काव्यकी निम्न कवितामें स्पष्ट है--"हम तो जादूगारके हाथके पुतले हैं। हमें वह जब जैसा नचावेगा हम नाचेंगे, जब मारेगा तब मरेंगे, जब बचायेगा तब बचेंगे, उसीकी तालोंपर हम नाचेंगे। सब अच्छा बुरा वही जाने। उसीके जिताये जीत है उसीके हराये हार है। वह तरावेगा हम तैरेंगे। बैठावेगा बैठेंगे, लुटायेगा लुटेंगे, छुड़ायेगा छूटेंगे। ईश्वरके पासोंके हम तो मुहरे हैं—हमें पकायेगा पकेंगे, कच्चा रखेगा तो कच्चे रहेंगे। जिनका मन भगवान्में लगा है उनके मुखसे ये वचन हीरेके समान शोभा देते हैं।

रामप्रसाद कवि, प्रभुभक्तिके लिये ही जीवन धारण करते थे, वे किस प्रकार प्रत्येक प्राणीमें ईश्वरको खोजते थे, इसका दृष्टान्त उनके निम्नलिखित भावसे स्पष्ट होगा। "सोनेको भी तू माताको दण्डवत करना जान, निद्रामें भी माताका ध्यान कर, शहरमें घूमते हुए भी माताकी प्रदक्षिणा करते हुए समझो, जो जो कानोंसे सुनाई दे उसे भी माताके जपमन्त्र मान, वर्णमालाका प्रत्येक अक्षर माताका ही नाम है। रामप्रसाद कहते हैं कि, सब प्राणियोंमें माता ही ब्रह्ममयी होकर व्याप्त है, भोजन करते समय भी समझ कि मैं माताके नामकी आहुति देता हूं।"

आनन्द लहरीमें लिखा है कि :—

"जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्रा विरचनम् ।
गतिः प्रादक्षिण्यं, भ्रमणमदनाद्याहुतविधिः ॥
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा ।
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम् ॥"

हमारा सब कुछ कहना भगवान्‌का जप हो। हाथोंके सब काम भगवान्‌के प्रति मुद्रादर्शन हों। हमारे सब पैरोंकी गति भगवान्‌की प्रदक्षिणा हो, भोजन सब भगवान्‌के नामपर हवन हो, सोना भगवान्‌के दण्डवत् प्रणाम हो, सब प्रकारके सुखभोग भगवान्‌के प्रति आत्मार्पण हो। हे भगवन्, मेरा सब किया कराया तेरी ही पूजाका रूपान्तर हो। इसको ही भगवानको हृदयमें धारण करना कहते हैं।

"ईश्वरके इच्छानुकूल अपनेंको रखना, उसके कभी प्रतिकूल न रहना और समझना, ईश्वर जो कुछ भी करता है, हमारे भलेके लिये ही करता है इत्यादि इस प्रकारके भावोंको अप्रातिकूल्य कहते है। जीसस क्राइस्ट कहा करता था कि, "प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो।" जिस समय भक्त "जाब" का सर्वस्व नष्ट हो गया था, उसकी स्त्री, माता, पुत्रादि सब मर गये थे, उस समय भी वह यही कहता था कि, "हे प्रभो ! चाहे मुझे तू काट डाल, पर तोभी मैं तुझपर विश्वास करूंगा।"

स्वामी रामतीर्थके जीवनमें यह अप्रतिकूलताका भाव कैसी गहराईका मिलता है। उन्होंने जब चारों दिशामें अन्धकार ही

अन्धकार देखा तब निराश हो गये। और गद्गद् होकर अपने हृदयदेवताको कहने लगे :—

कुन्दनके हम डले हैं जब चाहे तू गला ले।
या और न हो तो हमको ले आज आजमा ले॥
जैसी तेरी खुशी हो सब नाच तू नचा ले।
सब छान छानकर ले हर तो ये दिल जमा ले॥
राज़ी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रज़ा हो।
याँ यूं भी वाहवा है और वहां वूं भी वाहवा है॥
या दिलसे अब खुश होकर कर हमको प्यार प्यारे।
ख्वां तेग़ खेंच ज़ालिम टुकड़े उड़ा हमारे॥
जीता रखे तू हमको या तनसे सिर उतारे।
अब तो फ़कीर आशक कहते हैं यों पुकारे॥
राज़ी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रज़ा हो।
याँ यूं भी वाहवा है और वूं भी वाहवा है॥

नारद तन्मयभावनामें उद्दीप्त होकर कहते हैं :—

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधादिमानादिकं।
तस्मिन्नेव करणीयं तस्मिन्नेव करणीयम्॥

(नारदभक्तिसूत्र)

भगवान्को अन्दर और बाहरकी सब चेष्टायें अर्पण करके काम, क्रोध, अभिमानादिकका भगवान्पर ही प्रयोग करे।

सच्चा भक्त ईश्वरके साथ खेलता है, आत्मामें ही आनन्द मानता है, ईश्वरका आलिङ्गन एवम् चुम्बन करता है और अपने

हृदयमें अहर्निश ईश्वरको विराजमान रखकर, दिनरात बिता देता है। मुसलमान भक्त कवि हाफ़िज भी प्रभुप्रेमके झरनेमेंसे अमृत पान किया करता था।

जहां प्रेम होता है वहां क्रोध और अभिमान भी होते हैं। चैतन्यदेव इन दोनों उपायोंका प्रयोग ईश्वरके सम्मुख करते थे। रामप्रसाद कवि भी मानभङ्ग होनेसे कालीके प्रति कहते हैं कि, "अब मैं तुझे फिर कभी "मा" कहकर नहीं पुकारूंगा। तुझने मुझे कितना दुःख दिया है, और अभी अधिकाधिक देती जा रही है। बार बार मैं तुझे मा मा कहकर बुलाता हूं—क्या तू बहरी या अन्धी होगई है? जब बालककी ऐसी दशा हो तो फिर माताका क्या प्रयोजन? माताके जीतेजी बालककी यह दशा! पहले मैं गृहस्थ था, जहांसे उठाकर तूने साधु बना दिया, अब और तेरी क्या करनेकी इच्छा है? जो करना हो सो कर ले। मैं घर घर भीख मांगूंगा। मा मर जाती है तो क्यों बालक भी मर जाते हैं? माता ही अपने बच्चोंका दुश्मन बन जाय यह कितना भारी आश्चर्य्य है? तुझसे जो हो सके सो कर डाल, बिगड़ बिगड़कर तू मुझे पुनर्जन्मके चक्करमें डाल दे और क्या?

इस प्रकारका क्रोध दुनियाके भक्तिसाहित्यमें भाग्य हीसे कहीं देखनेको मिलेगा। ऐसा क्रोध केवल सच्चे भक्तोंको ही शोभा देता है।

सच्चे भक्तके लक्षणोंका वर्णन करते हुए गौराङ्ग श्रीरूप

गोस्वामी कहते हैं—भक्तकी योग्यताके अनुसार भक्ति पांच प्रकारकी है १—शान्तरति २—दास्यरति ३—सख्यरति ४— वात्सल्यरति ५—और मधुररति।

रतिभेदके अनुसार ही कृष्णके भक्तिरसके भी पांच प्रकार हैं। (१) कृष्णनिष्ठा, तृष्णात्याग, ये दो ही गुण शान्तरसमें होते हैं। ये दोनों प्रायः सब भक्तजनोंमें प्रगट होते हैं और आकाशका शब्दगुण जिस प्रकार पांचों भूतोंमें हैं उसी प्रकार उक्त दोनों गुण सब भक्तोंमें हैं। कृष्णमें ममताका गन्ध न होना ही शान्त स्वभाव है। उसके समक्ष ज्ञानमय परब्रह्म परमात्मा आ सकते हैं। शान्तरसमें केवल स्वरूपका ज्ञान होता है।

(२) दास्यरस या सेवारसमें ईश्वरमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य और भगवानकी प्रभुताका भान होता है। भगवानको ईश्वर जानकर चित्तमें दहशत तथा भगवानका गौरव अनुभव होता है कि कृष्णकी सेवा करो तो वह निरन्तर सुख देंगे। शान्तगुणके साथ साथ दास्यभाव हो जाय तो और भी अधिकप्रेमसे भजन सेवन होता है। इससे दास्यरसमें दो गुण हैं।

३—सख्यरसमें शांत और दास्यरस दोनों हैं। दास्यमें सेवकके हृदयमें प्रभुका मान, गौरव और सेवाका भाव होता है। मैत्री या सख्यरसमें वह विश्वासमय हो जाता है। ऐसी दशामें कभी भक्त भगवानके कन्धेपर चढ़ता है, कभी भगवान भक्तके कन्धेपर। वे दोनों परस्पर क्रीड़ा कौतुक करते हैं। भक्त कृष्णकी सेवा करता है और कृष्ण उसकी सेवा करता

है। सख्यमें विश्वास ही प्रधान भाव है। इसमें प्रभुका गौरव होता है पर उसके साथ हृदयमें भय आदि उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार सख्यरसमें तीन गुण स्पष्ट देख पड़ते हैं। सख्यरसमें कृष्णके प्रति भक्तकी ममता हो जाती है और भक्त कृष्णको अपने समान जान लेता है इसीसे सख्यरसमें कृष्ण भगवान भी भक्तके वशमें हो जाते हैं।

४—वात्सल्यरसमें शान्तका गुणगौरव और दास्यके सेवा-भावके साथ उसमें सख्यभाव अर्थात् असंकोच भी रहता है, गौरव-के भावकी अपेक्षा ममता अधिक रहती है उसीसे ताड़न और तर्जव भी होता है। उसमें भक्त अपनेको पालक मानकर कृष्णको पाल्य समझता है। इसमें चारों रसोंका आस्वादन होता है। इसीसे वात्सल्यरस अमृतके समान है। उसी अमृतस्वरूप आनन्दमें डूब-कर भक्त कृष्णके रसका गुण वर्णन करते हैं।

५—मधुररसमें कृष्णमें निष्ठा और अतिसेवा होती है। इसमें सख्यभावका असंकोच, ममताकी अधिकता और लालन भी रहता है। भक्त प्रभुको अपना प्रिय-पति जानकर तनमन अर्पण करके उसकी सेवा करते हैं। इस प्रकार मधुररसमें पांचों रस हैं। जिस प्रकार आका-शादि भूतोंके गुण क्रमसे, अन्य भूतोंमें उत्तरोत्तर बढ़कर एक, दो, तीन क्रमसे पृथ्वीमें पांचों भूतोंके गुणहैं, इसी प्रकार मधुर-रसमें भी सब रस आकर मिल जाते हैं। उसीसे उसमें स्वादकी मात्रा बहुत अधिक होनेसे हृदयमें चमत्कारका अपूर्व अनुभव

होता है। यह हमने भक्तिरसका दिग्दर्शन मात्र कराया है। यही विश्वास मनमें रख करके भगवानकी भावना करें तो कृष्ण हृदयमें प्रगट होंगे। कृष्णकी कृपासे मूर्ख भी इस रागको पा लेगा। (चैतन्य चरितामृत)

इसी उद्धारणको संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि भक्तभेदसे भक्ति पांच प्रकारकी है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। बिना शान्त हुए भक्ति आरम्भ नहीं हो सकती। शान्तरस भक्तिकी प्रथम सीढ़ी है।

शान्तरसमें दो गुण हैं—१, ईश्वरमें निष्ठा, २, संसारकी वासनाका त्याग। ये दोनों गुण भक्तिका निवासस्थान हैं। जैसे आकाशका गुण शब्द पांचों भूतोंमें है इसी प्रकार शान्तके दोनों गुण दास्य, सख्य और मधुर इन तीनों रसोंमें भी हैं। शान्तमें ईश्वर-से ममता नहीं होती, उसका स्वरूप ज्ञानमात्र होता है। ऐसे भक्त-को परब्रह्म परमात्माका ही ज्ञान होता है।

२—दास्यरतिसे भक्तिके मानमें ममताका संचार होता है, भगवान प्रभु और भक्त उसके दास हैं। भक्त भगवानको अपने आगे बहुत बड़ा गौरवशाली देखकर दिलमें दहशत खाता है। अपनेको उसका दास कहकर आनन्द अनुभव करता है। जैसे दास अपने प्रभुकी सेवामें लगा रहता है, उसी प्रकार भक्त भी भगवानकी सेवा करनेमें सदा व्यग्र रहता है, सिवाय भगवत्सेवाके उसे और कुछ अच्छा नहीं लगता। वह भगवानसे कुछ भी वस्तु नहीं मांगता।

प्रह्लादकी सेवासे सन्तुष्ट होकर भगवान वर देना चाहते थे "भगवान प्रसन्न होकर बोले :—हे प्रह्लाद, तुम्हारा मङ्गल हो, हे असुरोत्तम मैं तुमसे प्रसन्न हूं। तुम अपनी अभिलाषाके अनुसार वर मांग लो, मैं सभीकी अभिलाषाएं पूरी कर देता हूं।"

इस पर प्रह्लाद बोले:—

"मा मां प्रलोभयोत्पत्या सक्तं कर्मसु भैरवैः।
मत्संगभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः॥
भृत्यलक्षणजिज्ञासुं भक्तं कामेष्वचौदयत्।
भवान् संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो॥
नान्यथा ते ऽखिलगुरौ घटेत करुणात्मनः
यस्तु आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥
आशासानो नवा भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।
नस्वामी भृत्यतः स्वाम्य मिच्छन्योराति चाशिषः॥
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वंच स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथे हावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥
यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां यदसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥
इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः।
ह्री श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना॥
विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्वाय कल्पते॥ भागवत ७-१० अ०

हे प्रभु! मैं स्वभावसे ही इच्छाओंसे भरा हुआ हूं। मेरे

हृदयको अधिक लालचमें मत डाल। हे परमात्मन् मैंने आसक्ति-से भयभीत होकर उससे मुक्त होनेके लिये तेरा आश्रय लिया।

क्या आप मुझ भृत्यकी परीक्षा लेनेके लिये मुझे संसारके मूलभूत कामनाओंमें प्रेरणा करते हैं। यदि ऐसा नहीं तो फिर हे दया:सागर! जगन्नाथ! आप किस लिये मुझे काम-नाओंसे लुभानेकी चेष्टा करते हैं? भगवन्! जो मनुष्य आपसे वरदान मांगते हैं, वे तो आपके भक्त नहीं, वे प्रेमके बनिये हैं, क्योंकि, जो मनुष्य किसी हेतुको लेकर भक्ति करता है, वह सच्चा भक्त नहीं और जो स्वामी अपनी मानप्रतिष्ठाके लिये वरदान देना चाहता है वह भी सच्चा स्वामी नहीं। हे नाथ! मैं तो तेरा भक्त हूं, सब प्रकार कामनाओंसे रहित होकर मैंने आपकी भक्ति की है, आप भी सेवकपर:आश्रित नहीं हैं। आप-का मेरा कोई मतलबी या स्वार्थी स्वामी सेवकका सा नाता नहीं है। यदि आप वर देना ही चाहते हैं, तो मुझे यही वर दें कि, मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाकी उत्पत्ति न हो, क्योंकि, कामना उत्पन्न होते ही इन्द्रियां, मन, प्राण, आत्मा, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, लक्ष्मी, तेज, स्मृति और सत्य सबका नाश हो जाता है! हे कमलनयन! मनुष्य जब अपने मनकी सब काम-नाओंको त्याग देता है, तभी वह आपकी शरणमें पहुंच जाता है और आपमें लीन होने लगता है।

बङ्गालके अन्तर्गत चौबीसवें परगनेमें एक कलक्टरके नीचे

पेशकार रहता था, उसका मन भक्तिकी ओर बहुत झुका हुआ था और वह प्रतिदिन प्रातःकालके समय घण्टों ईश्वरकी पूजा किया करता था वह दोपहर हो जानेतक भी आफिसमें हाजिर नहीं हो सकता था। यूरोपियन अफसरने इस विलम्बके लिये उसे डांटा, पर उसका उसपर कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। अन्तमें कलक्टरने उसे नौकरीसे निकाल दिया। वहांसे अलग होकर वह मनुष्य गङ्गानदीके कालीघाटपर एक झोंपड़ी बांधकर रहने लगा और दूने उत्साहसे ईशभक्ति करने लगा। वह प्रतिदिन भिक्षा मांगकर बड़ा कठिनतासे अपना उदरपोषण करता था। यह देखकर उसके मित्रोंको बहुत दया आई। उन्होंने उसे फिर नोकरी दिलानेके लिये कलक्टरसे प्रार्थना की। एक दिन वह कलक्टर उसकी झोंपड़ीमें गया और वहांका सब दृश्य देखकर, उसने पेशकारसे कहा कि, "मैं तुम्हें पुनः उसी नौकरीपर रख लेता हूं। तुम अपने इच्छानुसार पूजा प्रार्थना करके उपस्थित हुआ करो।" उसने उत्तर दिया कि, "साहब ! मैं आपकी इस दयालुताका बहुत ऋणी हूं और इस कृपाको मैं कभी नहीं भूलूंगा। पर मुझे इस समय जैसी नौकरी मिल रही है वह कई हजार रुपये मासिकके बदलेमें भी मैं नहीं छोड़ सकता। आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगे। यद्यपि मैं इस समय भीख मांगकर अपना जीवन निर्वाह कर रहा हूं, तोभी मैं इस समय बहुत आनन्दमें हूं। वह आनन्द मुझे फिर नहीं मिल सकता। मुझे आशीर्वाद दें कि मैं अपने जीवनके शेष दिन गङ्गा और काली-

की सेवामें व्यतीत करूं।" ऐसा कहकर उसने नौकरीसे इनकार कर दिया। ·ह दासभक्तिका एक अच्छा दृष्टान्त है।

मैत्रीमें मान और चित्तकी घबराहटका स्वभाव दूर होकर भगवानके साथ समभाव, भगवानमें पूर्ण विश्वास और गले गले, कौली कौली भर कर प्रेमपूर्वक मिलनेकी उत्कण्ठा और प्रेमक्रीड़ा और कौतुक बढ़ता है।

भक्त सख्यरसमें भगवानके "कांधे चढ़े, कांधे चढ़ाय करें क्रीड़ारण, कृष्ण सेवे कृष्ण कराय आपन सेवन।"

सख्यरसका प्रधान लक्षण यही है कि भक्तको भगवानकी अपेक्षा और कोई भी प्यारा लगता ही नहीं। गुहराज कहते हैं—

"नहि रामात् प्रिय तरो ममास्ति भुवि कश्चन।"

संसारभरमें रामसे अधिक दूसरा मेरा प्रिय कोई है ही नहीं। गुहराज और श्रीराम, अर्जुन और श्रीकृष्ण, भक्त और भगवानकी जोड़ी प्रशंसनीय है, एक दूसरेके प्रतिरूप है।

सख्यरसमें आमोद प्रमोद करनेवाले भक्तके हृदयके भावको एक दिन सुदामाने श्रीकृष्णके सामने प्रकट किये। वे कह रहे थे:-

त्वं नः प्रोज्झ्य कठोर यामुनतटे कस्माद् कस्माद् गतो।
दिष्ट्या दृष्टमितोऽसि हन्त निविड़ाश्लैषैः सखीन् प्रीणय।
ब्रूमः सत्यमदर्शने तव मनाक् का धेनवः के वयम्।
किं गोष्ठं किमभीष्टमित्यचिरतः सर्वं विपर्यस्यति।

(भक्तिरसामृत)

हे कठोर कृष्ण, तुम किस हठसे हमें जमुनाके किनारे छोड़ कर भाग गये थे। बड़े भाग्य हैं कि तुम्हें हम फिर देख पाये। आओ, एक बार मित्रोंको कौली भरके प्रसन्न तो कर दो। हम तुमसे सत्य कहते हैं तुम्हारे थोड़ी सी देरके लिये ओझल हो जानेपर क्या गौएं, क्या बाड़ा, क्या हमारी अभिलषित वस्तुएं, सब उलट पुलट हो जाती हैं।

भगवानके प्रति ऐसी ही मित्रता चाहिये। भक्तिरसामृतसिन्धुमें प्रिय मित्रोंकी लीलाओंका श्रीरूप गोस्वामीने बड़ा ही उत्तम वर्णन किया है।

> निर्जितीकरणं युद्धे वस्त्रे धृत्वास्य कर्षणम्।
> पुष्पाद्याच्छेदनं हस्तात् कृष्णेन स्वप्रधावनम्॥
> हस्ताहस्ति प्रसंगाद्याः प्रोक्ता प्रियसखक्रियाः॥

श्रीकृष्णको युद्धमें हराना, उसका वस्त्र पकड़कर खींचना, उसके हाथोंसे फूल छीनना, उनसे अपने आपको सजा लेना, एक दूसरेको हाथसे हाथ पकड़कर खेंचना ये सब कार्य प्रिय मित्रोंके होते हैं। अपने हृदयमें जो भक्त भगवानके साथ ऐसी खेल खेला करते हैं वे ही सख्यरसकी मधुरताका आस्वादन किया करते हैं।

"देखो, तुम हारते हो या मैं हारता हूं" यह कहकर भक्त प्रेमके युद्धमें अग्रसर होता है, भगवानको पराजित करता है और भक्तिसे उसको अपना वशवर्त्ती करके बन्दी बना लेता

है । इसी प्रकारसे रामप्रसादने श्यामा माताको अपने प्रेमबन्धनमें बांध लिया था । वह कहते हैं कि :—

"उसका नाम श्रवण ही मेरे कानका भूषण है, उसका नाम-कीर्त्तन ही कण्ठका भूषण है अब और कौनसा आभूषण शेष रहा? मैं मणियोंका बना हार ही पहन रहा हूं।" इसी प्रकार भक्त पुरुष भगवानको अपना आभूषण तक बना लेता है।

भक्त प्रज्ञाचक्षु विल्वमंगल वृन्दावनके मार्गमें जा रहे हैं और भगवान श्रीकृष्ण बालकके वेशमें उसको ठीक ठीक राहपर चला रहे हैं। विल्वमंगलकी बड़ी ही उत्कट इच्छा थी कि वह उसके वर और अभय देने वाले मंगलमय मधुर कोमल हाथ-का एक बार स्पर्श करे, किसी प्रकार उसका हाथ पकड़ ले। वे ज्यों ही पकड़ने लगे त्यों ही बालक श्रीकृष्णने उनका हाथ दूर हटा दिया और चला गया। तिसपर भक्त विल्वमंगल बोले :—

हस्तावुत्क्षिप्य निर्यासि वलात्कृष्ण, किमद्भुतम्।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते ॥

हे कृष्ण ! यदि तुम बलपूर्वक हाथ छुड़ाकर मुझसे परे चले गये तो मुझे कोई आश्चर्य्य नहीं यदि हृदयसे निकल जाओ तो तुम्हारी वीरता जानूं।

वात्सल्यरसमें तो भगवान स्वयं गोपालस्वरूप हैं। भक्त लोग उनका अपने पुत्रके समान आदर करते हैं, स्नेह करते हैं, उनको गोदमें बैठा लेते हैं। बस यही भाव समझ लेना बड़ा कठिन

है। इस वात्सल्यरसके उदाहरणमें हम एक गीतका भावार्थ नीचे उल्लेख करते हैं। यशोदा कहती हैं :—

"सुन व्रजराज, स्वप्नमें आज गोपाल कहीं छिपा हुआ दिखाई दिया। अञ्चलमें चन्द्रके समान मुखपर आंचल लिये वह रो रहा था और "जननि! दे ननि (माखन), दे, ननि" ऐसे माको पुकार पुकारकर माखन मांग रहा था। तब धूलि झाड़कर मैंने उसे गोदमें ले लिया और अपने आँचलसे उसके आंसू पोंछ डाले। उसका मुखचन्द्र ही तो चांद था, पर मेरा चांद भी उस चांदके लिये रोने लगा। मैंने सोचा उसका अपना मुख ही करोड़ों चांदोंसे भी बढ़कर है। फिर वह चांदके लिये जाने क्यों रो रहा है? मैंने कहा—"इन सब चांदोंमें निष्कलंक चांद तो तू ही है, ऐसे तो कितने ही चन्द्रमा तेरे पैरोंपर लोट रहे हैं। उसके श्याम-शरीरपर धूल ही धूल लगी थी, वह बहुत ही मीठे स्वरसे अपने मुखचन्द्रसे "मा! मा!! कहता था। ज्यों ज्यों बच्चा कहता सर, सर, त्यों त्यों मैं अभागिनी भी कहती सर, सर, (हट हट)!"

इस कवितामें वात्सल्यरसका कैसा प्रवाह तरंगित हो रहा है। इसी वात्सल्यसे पूरित होकर माता यशोदाके स्तनसे क्षीर बहता था। उसका हृदय उमड़ आता था, हृदयमें गोपाल कृष्णकी मूर्त्ति रह रहकर चमकती थी। "गोपालका अनादर करके माता अब पागल सी हो गई थी, वह हृदयमें बड़ा दुःख अनुभव

कर रही थी। बीच बीचमें हृदयमें विरहाग्नि फूट फूटकर जल रही थी।"

इस कविताका आध्यात्मिक अर्थ बड़ा गम्भीर है। भगवान भक्तके पास प्रेमकी शिक्षा लेने आता है। भक्त एक बार उसका आदर करता है और फिर परे कर देता है। भगवान भी फिर छुप जाते हैं और भक्त भी उसके विरहमें छटपटाने लगता है। बस, इसी दशामें यशोदाने भी कहा—"आज स्वप्नमें गोपाल कहीं छिपा हुआ दिखाई दिया।"

भक्तके पास ही भगवान दामिनीकी दमककी तरह फिर प्रगट होकर फिर छिप जाते हैं, आंख मिचौनी खेलते हैं। यह तो उनकी बहुत पुरानी आदत है। एक बंगाली काव्यमें कहा है कि "मैं यह हूं, मुझे पकड़ो तो सही।" "मैं ढूंढ ढूढकर थक गया अब तुम नहीं मिलते। जब मैं खोजते खोजते निराश हो गया, थक चुका, हारके बैठ गया, तब तुम हृदयमें फिरसे आवाज लगाते हो।"

चपल बालक माता यशोदाका अञ्चल पकड़कर माखन लेनेके लिये रो रहा है। इधर भगवान भक्तके पास चिरकालसे प्रेमका नवनीत मांग रहा है। धूल झाड़कर गोदमें माताने बालकको उठा लिया। भगवानको ही गोपाल कहकर भक्त भी उसको गोदमें उठा लेता है। "आंचलसे चांदका मुख पोछा" माताने अर्थात् भक्त भगवानका आदर करता है "तब भी वह मुखचांद चांदके लिये रोता है।" अर्थात् भगवान भक्तके प्रेमके लिये विह्वल हो रहा

है। एक चांद तो भगवान स्वयं हैं दूसरा चांद भक्त है। जिसको भगवान लेना चाहते हैं, जो स्वयं निष्कलंक चन्द्र है, करोड़ों चांद भी एक होकर उसकी बराबरी नहीं कर सकते, जिनके हृदयमें अनन्य प्रेमपारावार है, जिनके चरणोंपर कितने भक्तरूप चांद आकर गिरते हैं, वे भगवान भी क्यों फिर भक्तोंके प्रति चांद चांद कहकर मेरा भक्त कहां है, मेरे भक्त कहां हैं, कहकर रोते हैं ?

प्रेमपारावारमें केवल प्रेम ही प्रेमसे पुकार कर प्रेमतरङ्गका नाद उठा करता है। भगवान भक्तके पीछे प्रेमके लिये सदा लालायित रहते हैं।

गोपालको प्रेम न मिले तो वह धूलिमें लोटने लगता है। वह भक्तसे अपने प्रति आदर पानेके लिये कितने ही उपाय रचता है। वह क्या लीलायें करता है कौन जाने ? प्रेम हीके लिये तो वह अपने श्यामशरीरको धूलिमें भर लेता है।

गोपाल वत्स रोता है कहता है 'सर' 'सर' अर्थात् भक्तका गोपाल प्रेमसरोवरके लिये रोता है, मैं अभागिनी बोली 'सर सर'। भक्तने कहा जा दूर परे हट। फिर भक्त पछताता है कि 'हा, मैंने क्या किया, बस भक्त पीछे ऐसे छटपटाया करता है। मैंने उसे परे परे कहकर हटा दिया। मनमें दुःखसे विह्वल होकर मैंने ऐसे हृदयके खजानेको दूर फेंक दिया, जो हृदयकी पारस मणि था, मेरे जन्मभरकी कमाई था। वह तो श्रीवत्स, कल्पतरु, जीवनका चिरकालके

लिये एकमात्र सहायक था। जिसके द्वारपर मैं सदा भिखारी था, वह मेरे पास प्रेमका भिखारी होकर उपस्थित हुआ, हा, मैंने उसे दुत्कार दिया। मेरा क्या होगा? मेरा क्या होगा? मैंने उसे उठाकर सिरपर क्यों न रख लिया, मैं तो उसे सर्वस्व दे देता तोभी मेरा चित्त न भरता, हा!"

भक्तका भगवानके प्रति जब थोड़ासा भी अपराध हो जाय तोभी भक्त लोग ऐसा ही पश्चात्ताप किया करते हैं।

अब मधुररस या दाम्पत्य भावके विषयमें अधिक हम क्या लिखें। जिस प्रकार हृदयमें प्रेमरससे भरकर पतिव्रता स्त्री अपने पतिके सिवाय किसी अन्यको नहीं जानती, उसी प्रकार भक्त अपने प्रभुके सिवाय दूसरेको नहीं जानता। वह अपना पूर्णतया आत्मसमर्पण करके कहा करता है कि "तेरे सौन्दर्य्यका विचार आते ही मेरी आंखोंसे प्रेमाश्रु बहने लगते हैं और तेरी सरलताका विचार करते करते मेरा मन ध्यानमें मग्न हो जाता है। मेरा प्रत्येक अंग तेरे अंगके साथ लगकर प्रेमजल बहा रहा है।

इससे उत्कृष्ट अवस्था और कौनसी हो सकती है? श्री चैतन्यदेव इस भक्तिसागरमें पूर्ण गोता लगा रहे थे। मनुष्यकी आत्मा परमात्माके साथमें ऐसा सम्बन्ध जोड़ लेती है जैसा सम्बन्ध श्रीकृष्ण और राधिकाके बीचमें या जीवात्मा और परमात्माके बीचमें होता है।

भक्तका हृदय इस दाम्पत्य प्रेमरसके मधुर सुगन्धसे पूर्ण हो जाता है। इस दशामें आत्मा बहुत ऊंचा, बहुत अधिक ऊंचा हो जाता है, उसपर काम-कुक्कुरकी दृष्टि भी नहीं पहुंच सकती। यहां अन्धकारमयी रजनी प्रगट नहीं होती, यहां तो पवित्र भावकी विमल प्रभासे सारी दिशायें प्रकाशित हो जाती हैं। पापपिशाच इस स्थानपर अपना मोहक जाल नहीं फैला सकता, दिव्यकथाके उस गुप्त प्रमोदकुंजमें अत्यन्त गुप्तरूपसे छुपकर हृदयनाथ उस भक्तको "राति दिन चोखे चोखे बसिया समाई देखे।" अर्थात् इसी अवस्थामें रातदिन टकटकी लगाकर बैठे बैठे देखा करते हैं। मुखसे आनन्द आनन्द ही टपका करता है। भक्त भगवान दोनों रातदिन करवटें ही लेते रहते हैं पर सोना नहीं मिलता। हृदयमें कितनी विह्वलता होती है—कभी वह मुंह दिखाता है, कभी पीठ दिखाता है, क्षणमें दीखता है, क्षणमें लुप्त हो जाता हैं। जैसे दरिद्रको अपना धन रखनेकी भी जगह नहीं मिलती और वह उसे अपनेही ऊपर लादे २ फिरा करता है, उसी प्रकार भगवान भी अपने भक्तको लिये लिये फिरा करता है। रातदिन भगवान और भक्तकी आंखोंसे आंखें मिली रहती हैं। वे दोनों एक दूसरेको देखते देखते नहीं अघाते। मुख मुखसे मिलाकर एक दूसरेको देख देखकर प्रेमाश्रु बहाया करते हैं। ऐसी दशामें भक्त और भक्तका प्राणप्रिय भगवान्, "दोनोंका परस्पर अनुराग और प्रेम दोनोंके हृदयोंमें जगा

करता है। दोनों एक दूसरेसे बिलगते और बार बार आलिङ्गन करते हैं दोनों ही अधरसे अधर मिलाते, दोनों दंश करते हैं। दोनोंके नयनोंमें प्रेम जल उमड़ता है दोनों ही भुजापाशोंमें एक दूसरेको बांधते, दोनों ही एक दूसरेसे बँधते हैं, और उसी अधरसुधाका पान किया करते हैं।

ऐसी आध्यात्मिक क्रीड़ा हम साधारण जनोंके ध्यानमें भी कभी नहीं आ सकती। इसी मधुररसमें पग पगकर श्रीगौराङ्ग-महाप्रभु जगद्बन्धुको देख देखकर गाया करते थे :—

भगवानका दर्शन करते हुए वे बोल उठे। "अहा! मुझे आज वह प्राणनाथ मिल गया जिसकी विरहाग्निमें मैं दिनरात झुलसा करता था।" भगवान करे हम सब श्रीगौराङ्गके समान प्रभुके बिरहमें कष्ट पाया करें तब हृदयसे पैशाचिक काम सदाके लिये उठ जाय। यदि मनुष्य इस दैवी-प्रेममें मग्न हो जाय तो इस संसारसे दुष्ट विकारोंका समूल नाश हो जाय। कामगन्धसे रहित, पवित्र प्रेमाग्नि सबके हृदयमें जल उठे।

जो मनुष्य इस श्रेणीमें पहुंच जाते हैं, उनके वाह्य धर्म कर्म कुछ नहीं रहते, वे सब कर्मकाण्ड छोड़ देते हैं। भगवानके प्रेममें पागल हाफिज कविने अपने सम्प्रदायके सब कर्मकाण्डका त्याग कर दिया, वह प्रभुप्रेममें मस्त हो गया था। एक बङ्गाली कवितामें कहा है कि "जिसके हृदयमें पुण्यस्वरूप साक्षात् घनश्याम विराजमान हैं, उसे माला, जप, तप आदि बाह्योपचारकी आवश्यकता क्या है? उनको चाहिये वे मत्त होकर सब

लज्जा त्यागकर जाति और कुलके अभिमानको रसातलमें डुबा दें और आनन्दसे प्रफुल्लित होकर प्रीतिकी महिमाका गान किया करें।

बिल्वमङ्गलकी कथा भी मधुररसका एक उत्तम नमूना है। कृष्णकी बांसुरीका नाद उसके हृदयमें कैसा भाव पैदा करता था? "सुनो! इस मन्त्रविद्या वाले जादूगरकी बांसुरीकी आवाजको सुनो। अहो! यह मुझे कैसी पागल बना रही है? कदम्बके वृक्षके नीचे अकेला बांसुरी बजाता हुआ कृष्ण किस प्रकार आशाभरी दृष्टिसे राहमें मेरे आनेकी बाट जोह रहा है। मेरे प्रणयमें पागल होकर वह मुझे बार बार बुला रहा है। यदि इस समय मैं नहीं जाऊंगा तो अश्रुभरे नेत्रोंसे निराश होकर वह वापिस लौट जायगा।"

जो अपनी अन्तरात्मासे इस बांसुरीका आवाज सुना करते हैं वही पागल हो जाते हैं। वृन्दावनमें श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका प्रेम भी ऐसा ही कामकी गन्धसे रहित था। वह भी मधुररसका परम उत्तम नमूना है। इस प्रेममें मोहका लेश भी न था यह ऊपर बतला दिया गया है। गोपियोंके विरहोन्मादकी झलक चैतन्यके चरित्रमें मिल जायगी। रास-लीला करते करते श्रीकृष्ण भगवान अदृश्य हो गये, विरह पीड़ासे गोपियां व्याकुल होकर जङ्गलके जड़ पदार्थोंसे श्रीकृष्णकी खबर पूछती थीं।

दृष्टो यः कच्चिदश्वत्थ प्लक्षन्यग्रोध नो मनः।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः ॥
कच्चित् कुरबकाशोक नागपुन्नागचम्पकाः।
रामानुजो मानिनीनां गतो दर्पहरस्मितः ?
कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये।
सहत्वालि कुलैर्बिभ्रद् दृष्टास्तेऽति प्रियोऽच्युतः ॥
मालत्यदर्शिवः कच्चिन्मल्लिके, जातियूथिके।
प्रीतिं वा जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः ॥
चूतप्रिया लपनसासनकोविदार
जम्ब्वर्क बिल्व बकुलाम्रकदम्बनीपाः।
ये ऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूला
शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितत्मनानः ॥
भागवत १०।३०।५।६।

हे पीपल! हे बड़हर! हे पिलखन! क्या तुमने नन्द-नन्दनको देखा है? वह अपने प्रेम हास और अवलोकनोंद्वारा हमारा मन भी चुरा लेगया है। हे कुरबक, हे अशोक, हे पुन्नाग, हे चम्पक, क्या सब कामिनियोंके भी गर्वको हरके यहांसे रामके छोटा भैयाको जाते देखा है? हे तुलसी, हे कल्याणि, हे गोविन्दके चरणोंकी प्यारी, जो कृष्ण भौंरेसे मनोहर तुझे अपने चरणोंपर रख लेता था उस अपने प्रिय अच्युतको भी कहीं जाते देखा है? हे मालति! हे मल्लिके! हे जाति! हे यूथिके! जो तुममें अपने हाथोंके कोमल स्पर्शोंसे अपना प्रेम उपजाया करता था उसको कहीं देखा है।

हे आम ! हे पियाल, हे फालसे, हे कचनार, हे जामुन, हे विल्ववृक्ष, हे बकुल, हे कदम्ब, हे नीप और हे जमुनाके किनारे परके परोपकारी वृक्षो, हम कृष्णके विरहमें बड़ी व्याकुल हैं कहो तो कृष्ण कहां चला गया ?"

ऐसी मर्मस्पर्श करने-वाली वाणी दूसरी ढूंढ़े भी नहीं मिलेगी। ठीक गोपियोंकी तरहही विरहमें कातर भगवानके भक्त "श्रीगौराङ्ग महाप्रभु प्रभुके विरहमें पागल हुए घूम रहे हैं। उन्होंने हास्यविनोद बिलकुल त्याग दिया, यह देखकर मेरा हृदय बहुत दुखित हो रहा है, जड़ और चेतन जो भी सम्मुख आता वह बिना विचारे केवल उसीसे प्रश्न• करने लगते। अहो ! मेरा नाथ ब्रजराज कहां गया ? कभी गिड़गिड़ाकर रोने लगते हैं, कभी धूलिमें लोटते हैं और कभी खड़े होकर दौड़ने लगते हैं। कवि राधामोहन कहते हैं यह दशा देख-कर मेरा हृदय तो बेवस हो जाता है।"

विरहावस्थामें जर्जर होकर श्रीगौराङ्ग श्रीकृष्णको बहुत ही कटुवचनोंसे बुलाते हैं। किसी समय हृदयमें मानका भाव आजानेसे वह भविष्यमें श्रीकृष्णका नाम न लेनेका निश्चय कर लेते हैं पर उसका मन नहीं मानता। वे तो उसके लिये पागल हुए फिरते हैं। वह कभी कृष्णके नाम, कभी कृष्णपर अनन्य प्रेम रखनेवाली गोपिकाओंके नाम लिया करते हैं। कभी उस प्रेमका पूर आजानेसे अपने सब विचारोंको एक ओर रखकर वह फिर भगवानसे अपने पास आनेके लिये नम्र

प्रार्थना करते हैं। नाना प्रकारके भाव उनके हृदयपर अधिकार कर रहे हैं। शोक, निराशा, बेचैनी, उत्सुकता आनन्द आदि क्रमसे उसके हृदयपर अधिकार करनेकी चेष्टा करते हैं, पर इन सबका कारण वही प्रेमोन्माद है। ये सब सात्विक भाव मत्तगजके समान हैं, यह देह मानो ईखका खेत है, सब भावरूपी गज उसमें युद्ध क्रीड़ा करते हैं और खेत उनके पैरोंके तले कुचला जाता है। प्रेमके भावोंसे भरे हुए रोमाञ्चित हो गौराङ्ग प्रभु फिर पुकारने लगते हैं।

हे देव ! हे दयित ! हे भुवनैकबन्धो !
हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणैकसिन्धो !
हे नाथ ! हे रमण, हे नयनाभिराम !
हा ! हा ! कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे (कृष्णकर्णामृतम्)
हा, हा, तुम मेरी आंखोंके सामने कब आओगे ?

एक क्षणमें भक्त उसे "चपल" कहता है और फिर तुरन्त ही दूसरे क्षणमें वह उसे "करुणासिन्धु" कहता है। प्रेमकी भाषामें ऐसा ही असम्बद्ध प्रलाप हुआ करता है।

प्रेमी प्रेमिकाओंके हृदयमें इसी प्रकारके
भावावेशे उठे प्रणयमान।
सोल्लुण्ठ वचनरीति, मान गर्व, व्याजस्तुति
कभू निन्दा, कभू वा सम्मान !

किन्तु हृदयमें एक ही प्रकारका सदा अचल, अटल, स्थिर प्रेम लगा रहता है। भक्ति भाव भी सुख और दुःखके मिलनेसे

परम रमणीय होकर हृदयाकाशमें इन्द्रधनुषकी सी शोभा बढ़ाया करता है। भक्त सती प्रेम रूप कण्ठहारमें भूषित होकर कहती हैं।

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

पदावली।

मेरा तो प्रेम उसीके चरणोंमें है वह मुझे पकड़कर चाहे पीस डाले या मुझे दर्शन न देकर हृदयपर मर्माघात करके दारुण पीड़ा पहुंचा दे, यह लम्पट जैसा चाहे करे, मेरे प्राणोंका पति तो वही है, दूसरा नहीं।" यहां कोपके भावसे सतीने अपने प्रेमीको "लम्पट" कहकर पुकारा है।

मीराबाई कहती है :—

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई।
जाके शिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई॥
तात मात भ्रात बन्धु आपना नहिं कोई।
छोड़ दई कुलकान क्या करेगा कोई॥
सन्तन ढिग बैठि बैठि, लोकलाज खोई।
असुअन जल सींच सींच, प्रेमबेलि बोई॥
अबतो बेल फैल गई, आनन्द फल होई।
आई मैं भक्ति जान, जगत देख मोई॥
दासी मीरा गिरिधर, प्रभु तारो अब मोहि।

भगवानको पूरा आत्मसमर्पण :— इस अवस्थामें हविर

दशा भी विषकी लपट सी जान पड़ती है और मिलनेपर भी दिल नहीं भरता, विरहानलकी विषम ज्वाला जलनेपर भी हृदयमें अमृत रस ही झरा करता है।

"बाहिरे विष ज्वाला हय, भितरे आनन्दमय,
कृष्ण प्रेमार अद्भुत चरितामृत ।
एई प्रेमार आस्वादन तप्त इक्षुचर्वण,
मुख ज्वले नायाय त्यजन ॥
सेई प्रेमा यार मने, तार विक्रम सेई जाने,
विषामृते एकत्र मिलन ।

कृष्णके प्रेमका अद्भुत चरितामृत है। बाहर तो विषकी ज्वाला है और भीतर आनन्दमय है। यही प्रेमका आस्वादन गरम गन्ना चूसनेके बराबर है, मुख जलता है पर छोड़नेका जी नहीं करता, जिसके मनमें यह प्रेम होता है वही उसका महत्व जानता है। इसमें विष और अमृत एक स्थानपर मिले हुए हैं।

मिलन या भगवानकी प्राप्ति होनेपर :—

"जनम अवधि हम रूप निहारनु,
नयन न तिरपित भैल ॥
लाख लाख युग हियाय राखनु,
तवू हिया जुड़न ना गैल,
बचन अमिय अनुक्षण शुनलू,
श्रुतिपथ परश न भैल ॥

कत मधुयामिनी रभसे गोडाइनू,
ना बूझनू कै छन केलि ॥

जन्मभर हमने उस भगवानका रूप देखा पर नयन तृप्त न हुए, लाखों युगोंतक उसे हृदयमें रखा पर तोभी हृदयसे आकार न मिला, उसका वचनामृत रस प्रति क्षण पिया पर कानोंसे उसका स्पर्श न हुआ। कितनी सुन्दर रातें मैंने इस रसमें गुजार दीं पर कितने क्षण मधुर लीला हुई यह पता न लगा।

हमारे हृदयका भाव कौन जाने। हृदय वल्लभको हमने सब प्रकारसे हृदयमें रखा, पर प्यास न मिटी। श्रुतिने इसीको सख्य सम्बन्ध कहा है। यही परम रस है। "रसो वै सः"। बिल्वमङ्गल इसी सम्बन्धमें बंधकर कहा करता था :—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
मधु गन्धि मृदुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम् ॥

विभु परब्रह्म भगवानका यह शरीर ही मधुर है, मुख मधुर है, मधुर, है, मधुर है, बड़ा ही मधुर है। उसी मधुर मुसकानमें मधुकी गन्ध है वह बड़ा ही मधुर बड़ा ही मधुर और मधुरतम है।

सौम्यासौम्यतरा स्येषा सौम्येभ्यस्त्वति सुन्दरी। चण्डी! सुन्दर बहुत ही सुन्दर, सब सुन्दर पदार्थोंमें भी सुन्दर है। जो उसको जान लेता है उसके सुखकी सीमा नहीं, वे धन्य

हैं, उनका कुल धन्य है, वे जिस स्थानपर रहते हैं वह देश धन्य है ।

इस लोकमें भक्तिका चरम उत्कर्ष इतने तक ही है। इस से अधिक हम क्या कह सकते हैं ।

उपसंहार ।

भक्तिरूपी पारस मणिके संयोगसे जो मनुष्य सुवर्ण हो गया है, उससे बढ़कर भाग्यवान और कौन है ? उसके चरणों-की रजसे भी हमारा कल्याण हो सकता है। परमात्मा भी भक्तोंका दास है। श्रीमद् भागवत्में स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि :—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज !
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥

"हे ब्रह्मदेव ! मैं स्वयं स्वतंत्र नहीं हूं, मैं तो भक्तोंके वशमें हूं, मेरा हृदय भक्तोंने ग्रस लिया है, मैं भक्तोंको बहुत प्यारा लगता हूं ।

नाहमात्मानमाशंसे मद्भक्तैःसाधुभिर्विना ।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥

जिन भक्तोंके लिये मैं ही परम गति हूं, उन साधु भक्तगणों-को छोड़कर मुझे बड़ी भारी लक्ष्मी समृद्धिकी भी इच्छा नहीं । भक्तोंका भगवानपर इतना प्रभुत्व होता है ।

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तां स्त्यक्तुमुत्सहे ॥

जो अपने पुत्रों, बन्धुओं और अपने प्राण और धन, इह-लोक और परलोकतकको छोड़कर मेरी शरणमें आये हैं, मैं उनको कैसे छोड़ सकता हूं ।

मयि निबद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥

जैसे सती साध्वी स्त्री अपने सत्पतिको वश कर लेती है उसी प्रकार साधु समदर्शी भक्तजन मुझे भी अपने हृदयमें बांधकर धर लेते हैं ।

सत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतो ऽन्यत्कालविद्रुतम् ॥

मेरी सेवासे तृप्त होकर वे मेरी सेवासे प्राप्त होने वाली सालोक्य आदि चारों प्रकारकी मुक्तियोंकी भी इच्छा नहीं करते जिसका कुछ कालमें नाश हो जायगा ऐसे विषयोंका तो कहना ही क्या ?

साधवो हृदयं मह्यं साधूनाम् हृदयं त्वहम् ।
यदन्यत्तेन जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

साधु लोग मेरा हृदय हैं और मैं साधुओंका हृदय हूं ! वे मेरे सिवा कुछ नहीं जानते और मैं उनके सिवा कुछ नहीं जानता ।

भगवानके साथ जिनका ऐसा सम्बन्ध हो जाता है, बल्कि

द्वारपर जैसे स्वयं भगवान पहरेदारी करते थे उसी प्रकार उन भक्तोंके हृदयद्वारोंपर भी प्रेमके डोरेसे बँधकर भगवान उनकी सेवामें लगे रहते हैं। उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ इस संसारमें और कौन है उनसे अधिक सुखी भी कौन है। ऐसा एक भी भक्त हो तो उससे ही "मोदन्ति पितरो, नृत्यन्ति देवताः, सनाथा चेयं भूर्भवति।" पितृगण आनन्दित होते हैं, देवता लोग नाचने लगते हैं, वसुन्धरा भी मनमें कहा करती हैं कि आजतक मैं अनाथ थी, आज मैं सनाथ हो गई हूं। (नारद भक्ति सूत्र)

ऐसे भक्त जिस स्थानपर पैर रखते हैं वही स्थान सोना बन जाता है जिसे छूते हैं वह हीरा हो जाता है, जिधर देखते हैं उधर ही पूर्ण ध्रुवलोककी ज्योति चमकने लगती है, उनकी अंगचेष्टाओंसे ही सब ओर स्वर्गकी सुगन्ध फैला करती है, उनका प्रत्येक वाक्य पापियोंके हृदयसरोवरोंमें भी शतदल पद्म खिला देता है, उनके प्रत्येक कार्य्यसे मन्दाकिनीकी विमल धारा जगत्को शीतल करती है, उनके प्रत्येक संकल्प से कुशलकुसुमोंकी वर्षा बरसा करती है, नरलोकमें उनके नामपर आनन्दके बाजे बजते हैं, स्वर्गलोकमें विजयदुन्दुभि बजा करती हैं, नरलोकमें राजराजेश्वरोंके मुकुट उनके चरणोंमें लोटा करते हैं, सुरलोक में देवगण उनके आसनपर थोड़ासा स्थान पाकर भी अपनेको धन्य माना करते हैं। एक बार बैठकर हम दिल भरकर भगवान और भक्तके मिलनेकी घोषणा करें। इस देवदुर्लभ मिलनकी छवि

भगवान एक बार दिखाकर हमें भी मोहित करें। वही मनोमोहन अपने भक्तोंके साथ हमारे हृदयसिंहासनपर आकर विराजें और हम आकाश और पातालतकको कंपा देनेवाली वाणीसे उस हरिका नाम लें और कहें :—

जयति जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम।
जयति जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम॥

इति।

सन् १८५७ के गदरका इतिहास

लेखक—पण्डित शिवनारायण द्विवेदी।

सिपाही विद्रोह क्यों हुआ ? यह प्रश्न अभीतक प्रत्येक भारतवासीके हृदयको आन्दोलित कर रहा है। कोई इसे सिपाहियोंका क्षणिक जोश बतलाते हैं कोई सिपाहियोंकी बेजड़ बुनियाद, धर्म भीरुता बतलाते हैं और कोई इसे राजनीतिक कारण बतलाते हैं। साधारण बुद्धिसे भी विचार करनेपर यही कहा जा सकता है कि इतनी भीषण क्रान्ति बिना किसी प्रबल और विशेष कारणके नहीं हो सकती। प्रस्तुत पुस्तक अनेक अंग्रेज इतिहासज्ञोंकी [illegible]कोंके गवेषणा पूर्ण छानबीनके बाद लिखी गई है। पूर्[illegible] सहित इसमें दिखलाया गया है कि सिपाहियोंका क्रान्[illegible] पूर्णतः दावी हैं और यदि उन्होंने [illegible] की होती तो लार्ड डलहौजीकी कुटिल और दोष पूर्ण नीतिके रहते भी इतना रक्त[illegible] न हुआ होता। प्रस्तुत पुस्तकसे इस बातका भी पता [illegible]ता है कि इस रक्तपातकी भीषणता बढ़ानेमें अंग्रेजोंने भी [illegible] नहीं रखी थी। जिन सहृदय भारतवासियोंने ऐसे संकटके समय भी इन्हें शरण दी, इनके प्राण बचाये, उनके साथ इन्होंने घोर निर्दयताका बर्ताव किया। पुस्तक प्रत्येक भारतवासीके पढ़ने योग्य है। पुस्तक दो भागोंमें समाप्त हुई है। प्रथम भाग प्रकाशित हो गया, दूसरा शीघ्र ही प्रकाशित होगा। सुन्दर एण्टिक पेपर छपी है। प्रथम भागके सजिल्द प्रायः ६०० पृष्ठोंका मूल्य ३॥) मात्र

हिन्दी पुस्तक एजेंसी

१२६ हरिसन रोड, कलकत्ता।